

गत प्राणणाहु के ववसृष्टि संस्मरण में यह स्पष्ट किया गया था कि, शुष्काकोप छद्मिष्ठ अन्तरिक्ष में, एवं पृथिवी में दोनों स्थानों में समानरूप से वृष्टि हुआ करती है। अग्निदेवता अन्तरिक्ष में पानी बरसाते हैं, पर्जन्यदेवता भूमि पर पानी बरसाते हैं। प्रकृत संस्मरण में भी वही पूर्व संस्मरण का स्पष्टीकरण हुआ है। जिस प्रकार सौरसावित्राग्नि रश्मियों के द्वारा मृपिण्ड की ओर अजस्र रूप से आया करता है, एवमेव पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि अङ्गणों के द्वारा शुष्का की ओर आया करता है। आते हुए इस प्राणामि के आकर्षण से आकर्षित समुद्र मरित ओषधि, वनस्पति, प्राणिशरीर आदि में 'सुष्ठु पार्थिव अजमात्रा (रसमात्रा) धूम (वाष्प)' रूप में परिणत होकर अन्तरिक्ष में चली जाती है। यही हम पार्थिव पानियों का 'गर्माधान' है। अन्तरिक्ष में व्याप्त वायुविशेष मरुतु नाम से प्रसिद्ध है, जिस के सप्त-सप्तक (४६ मरुत) अन्तरिक्ष में इतस्तत् प्रवाहित रहते हैं। भूलोक से आते हुए अङ्गिरोग्नि के द्वारा अन्तरिक्ष में प्रक्षिप्त (फेंके गए) ये वाष्परूप पानी इन वायु धरातलों में प्रविष्टित हो जाते हैं। जिस दिन पानी का अग्निद्वारा वायु धरातल में गर्माधान होता है, उस से ठीक १६५ वर्ष दिन वह पानी सूख रश्मियों के आघात से भूमि पर गिर पड़ता है यही हम का प्रसन्न माना गया है। गर्मजल प्रसन्नकाळ दोनों के मध्य का काळ 'वाइष्कास' कहलाया है। पार्थिव अग्नि सौररश्मि के अतिरिक्त-पञ्चन्यवायु, विद्युत् स्तनयित्तु अन्न मेघ आदि आदि अन्य पदार्थ भी इस वष्टिकल्म के सहायक बनते हैं। भारतीय अन्यान्य विद्याओं में वृष्टिविद्या भी अपना एक विशेष महत्त्व रखती है। प्रस्तुत अङ्क में कद्वत होने वाले छ गादापन आद्यज की १८ वीं कण्डिका में इसी वृष्टिविद्या का विश्लेषण हुआ है। तत्कण्डिका के चित्रण प्रकरण में विस्तार में इसी विद्या पर प्रकाश डाला गया है जो पाठकों के स्थिर विराग्यरूप से अनुरक्षण की सामग्री मानी जायगी। प्रस्तुत अङ्क के १५२ वं पृष्ठ में वष्टिविज्ञान का प्रारम्भ हुआ है। एवं समाप्त ५ — ६ पृष्ठों में इस का प्रतिपादन हुआ है। जिसमें से प्रकृत अङ्क में मुख्यतः तुल्यता परिस्थिति के वत्ता केवल २ पृष्ठ ही प्रकाशित हो पाए हैं। शेषारा अगले (३) अङ्क की प्रतीक्षा में है जिस प्रतीक्षा की सफलता प्राच्यसाहित्य प्रेमियों की कृपा पर ही अवलम्बित है।

घ—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह—

आहवनीयाग्नि के दक्षिण भूमिदेश में लड़ होकर आहवनीयाग्नि की दक्षिणाग्नि
 स्वाहा में समन्वय वागनुगत उत्तराधार करने के अनन्तर (बहुम्वित भाज्य की घबिच्छिन्न
 धारारूप में आहुति देने के अनन्तर) वह अर्धसु आहवनीय में पश्चिम माग में साद
 भाता है। वहाँ आकर उपसृत् स अमसृत् सुह के भाग्ययोग का भुवागव्य भाग
 में समन्वय करा देता है” यह इतिकल्पना पृथक् स (१।१।२।) प्रतिपादित हुई है।
 अब क्रमशः सूत्रानुगत भाग की इतिकल्पना बतलाई जाती है। बहुम्वित भाग्यभाग
 का भुवास्थित आग्न के भाग समन्वय कराने के अनन्तर वृत्त संघा में पूर्वोत्तराधार
 की इतिकल्पना समाप्त करने के अनन्तर वह अर्धसु उपसृत् सुह नाम के दानों से क
 पात्रों का स्वरूप में (उनका म्रिय पहिले में निपट स्थान में) रख देता है। इस प्रकार
 स वृत्तवर्षी के वयागधान रखने के अनन्तर वह अर्धसु होता में उत्तरमार्ग द्वारा निकल
 कर उत्तर कुण्ड के पश्चिम माग की ओर पूर्वोत्तराधार लड़ा हाकर इधममदहनों (काट
 वाहन के समस्तों) की भजन हाथ में म्ना हुआ— ओ भाव” इस निगदमन्त्र का
 उच्चारण करता है। अतिवृत्तमन्त्र की भजन आगे वदधान बाएँ वक्रकों वक्रमान
 के बीच का कीर्तन करने के उद्देश्य से ही “ओ भाव” मन्त्र का उच्चारण होता है। उन
 का तात्पर्य यही निश्चय है कि, हे आग्नीमि! अब तुम वक्रमान की दिग्ग देवताओं के
 प्रति मुनवाई करो। अर्धसु के मुख में निहित हुए ओ भावक मन्त्र आभावाय की
 लक्षणा-वृत्ति करता हुआ आग्नीमि नामक अतिवृत्त अर्धसु में उत्तर इतिवाग्भ्युत्तर लड़ा
 हुआ स्वयं तथा इधममदहमन्त्र हाथ में लेकर बोलता है — अर्धसु भौगद । अर्धसु
 पून ओ भावक कम्म आभावाय कम्म है एवं आग्नीमिपूत अर्धसु भौगद कम्म म्ना
 भावक कम्म है। पर आभावाय, तथा म्नाभावाय कम्म यज्ञात्मक प्रकृत रसने के
 विष्णु-इधममदहनों को हाथ में लिए ही करना चाहिए। किन्तु यह वादिक यज्ञात्मक
 प्रकृति के लिए यदि पर विदे उपसृत्त का भावका इधम की वक्रम की उच्चारण उस हाथ

में लेकर आभाषण प्रत्याभाषण करते हैं किंतु एक का कि, वास्तवही मुझ से
 किना है। इस प्रकार प्रकरण कर्मों से अपने अर्थों आभाषण करता है। अर्थहीन
 भाषण करता है। कर्मार्थ का इस सम्बन्ध में वह स्पष्टीकरण और है कि, 'इत्यन्वयान्तर
 मयः केवल होकर सम्बन्धी आभाषण प्रत्याभाषण कर्मों में ही होता है। आभाषण-
 प्रत्याभाषण की इसी इतिकर्तव्यता का निम्न विनिम्न सूचकानुचयी से स्पष्टीकरण हुआ है—

(१)—“निषामेभ्यस्तद्वान्मन्त्राः—‘वो अग्ने’ इत्याह”

(अ जी २ १७३१) ।

(२)—“अस्तु मौनं हित्वधीत्”

(अ १७४१) ।

(३)—“वेदिर्वहिं रिप्यस्तत्रवपिष्ठियैके”

(अ- १७५१) ।

(४)—“एव सर्वत्राऽऽधुत-प्रत्याधुतेषु”

(अ- १७६१) ।

आभाषण-प्रत्याभाषण-कर्मोन्तर वह अन्वय इत्यन्वयान्तरों को अपने हाथ में
 रखता हुआ ही दिव्याग्निमान् होता का अपने इस यज्ञ में— अग्निर्वो देव्यो होता दे
 वान्त्वहिरिद्राभिस्त्रिषान्मनुष्यैरवधत्’ इस निगमन्य का उच्चारण करता हुआ करण
 करता है। इस प्रकार सर्वप्रथम दिव्याग्नि का ही करण किया जाता है किन्तु परवर्त्य
 का निम्न विनित सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

“अथ प्रवृत्तिः—“ऽभिर्देवो देव्यो होता देवान्त्वहिरिद्राभिस्त्रिषान्-
 मनुष्यैरवधत्” (अ १७७१) ।

दिव्याग्नि का इस प्रकार होतृत्वन करण करने के अनन्तर आर्षेय वज्रमान का नाम-
 ग्रहण पूर्वक करण करता है। वज्रमान सम्बन्ध से ही कितने से आर्षेय ‘वज्रमानार्षेय’
 कहाय है। पर से इस ओर— गौतमक मरुतक-अङ्गिरोक’ इत्यादि रूप से,
 ‘अवधत् अन्तरात्-नेत्रुवधत्’ इत्यादि रूप से — ‘मृगक-व्यवधत् अतवानक’ इ
 त्यादि रूप से गौतम अवधत्, मृग मरुतावादि वज्रमान गोबालुतार वज्रमान के तीन
 वधवों का निगमन्यामप्रवेन उच्चारण करता है। अथवा वज्रमान कुछ में कितने मी
 मंत्राव्या प्रकराव्याय में उपर्युक्त हैं उन सब का नाम किया जा सकता है। कितनी का

मंत्रकृत् एक श्रुति है यही एक प्रवर कहलाया है । किसी के ही मन्त्रकृत है, किसी के तीन हैं किसी के चार किसी के पाँच हैं । वे क्रमशः द्विप्रवर त्रिप्रवर चतुप्रवर पञ्चप्रवर कहलाए हैं । जिसके कितने प्रवर हैं उन मन्त्र का भी बरण करना पञ्चान्तर है यही तात्पर्य है । दोनों पक्षों के सम्मुख में निष्कर्ष यही है कि, आर्यैव प्रवरण मे — आर्यैव वृणीतं यद् यद् कर मन्त्रान् भाषलम्भ मे कृता है— “एक वृणीत द्वौ वृणीते त्रीन् वृणीत न चतुर्ण वृणीते न पञ्चातिवृणीत” (आन श्रौ २।१६।८) । यदि मूलगत त्रिप्रवर को विधिवत्क मान लिया जाता है तो तीन का ही बरण स्वावश्यक होता है एवं वही कत्वायन का प्रथम पक्ष है । यदि आर्यैव वृणीतं इसे विधि-यत्क माना जाता है तो सभी मन्त्र-ग्रन्थाओं का बरण प्राप्त हो जाता है एवं यही कत्वायन का उत्तरपक्ष है । अमिषिष्ठ क्षत्रिय (राजा), अनमिषिष्ठ क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीनों में बरण क्रमावृत्त्या इतिवृत्त्यना कुछ विशेषता रहती है । “यन् अमिषिष्ठ क्षत्रिय यत् कर रहा है तो अन्वर्तु उक्त क्षत्रिय राजा के कुम्भपुरोहित के आर्यैवों का भी बरण कर सकता है भयसा त्वत् राजा के आर्यैवों का भी बरण कर सकता है ।” यदि अनमिषिष्ठ सामान्य क्षत्रिय का तथा वैश्य का मत है, तो उन भक्षसा में प्रत्येक देशा मं इन के कुम्भ-पुरोहितों के आर्यैवों का ही बरण होता है । एक पक्ष यह भी है कि—ब्राह्मण अमिषिष्ठ क्षत्रियराजा, अनमिषिष्ठ सामान्य क्षत्रिय-वैश्य तथा मनुष्य इति निगद मन्त्रद्वारा भी आर्यैव बरण किया जा सकता है । निम्न लिखित मूलग्रन्थ में इसी आर्यैव-बरणक्रम का स्पष्टीकरण हुआ है—

- (१)—“अमुषदमुष” दिति यजमानापयाण्याद् परस्तादर्थाश्चि त्रीणि”
 (अ १।१।८) ।
 (२)—“पावन्तो वा मन्त्रकृत ”
 (अ १।१।९) ।
 (३)—“पुरोहितार्येण वा”
 (अ १।१।१०) ।
 (४)—“क्षत्रिय-वैश्ययोश्च नित्यम्”
 (अ १।१।११) ।
 (५)—“मनुष्यं दिति वा सर्वेषाम्”
 (अ १।१।१२) ।

१. उक्त प्रकार से अनेकोंवात्सानन्तर यह अभ्यर्तु— 'ब्रह्मन्वदा य ब्रह्म ब्राह्मणा अस्व ब्रह्मस्य प्राप्तिरसौऽसी मातुष' इति निगद्योक्त्यनन्तर का उच्चारण करता है। अनन्तर— 'मोक्षोक्त्यनन्तर' घम्मा होता मातुषः' ('असी मातुषः') यह बोधव्य है। यह उच्चारण मातुष होकर का ही करण लायक है। मातुष होता का उच्चारण से ब्रह्म बोधना एक एक है चरित्र से (उपाधुक्त्य से) नामोच्चारण करना पञ्चान्तर है। इस प्रकार मातुष-होतुवत्त्वानन्तर यह होता (मातुष होता) 'यद्यन्मा देव तस्मिन् हीत इत्यादि (उपाधुक्त्यनन्तर) लक्षणजनक करने के अनन्तर) अभ्यर्तु तथा आशीर्वा दोनों के लक्षण प्रवेश का कार्य करता है। लक्षणान्तर अभ्यर्तु तथा आशीर्वा, दोनों कथ्यत्वान्तर के होते हैं। इसी इतिवर्तमानता का उद्देश्य करते हुए, द्वाकाल करते हैं—

(१)—“ब्रह्मन्वदा य ब्रह्म ब्राह्मणा अस्व ब्रह्मस्य प्राप्तिरसौऽसी मातुष”
इति होतुनामब्रह्मन्वदः” (अ ३।२।१३।)

(२)—“उपाधु वा” (अ ३।२।१४।)

(३)—“सम्पूज्य उपदिशतः” (अ ३।२।१५।)

इति ब्रह्मन्वदाद्युपाधुवदिसंज्ञः (५)

४—वैज्ञानिक विवेचना—

१—आभाषणकर्मोपपत्तिः

उत्तमाचार कर्मानन्तर सुहृदिण आत्मरोग का सुचारित आत्म से समझन कराया जाता है अनन्तर सुहृद उपश्रुत् नामक दोनों सुहृदों को यथास्थान रत्न दिया जाता है । इस कर्म में अनन्तर वरणकर्म आरम्भ होने जाता है । त्रिं दर्शनसमूहों से वरिष्ठ इप्स (काष्ठ) बाधे जाते हैं वर वृत्तमहि 'इप्ससमूह' नाम से व्यवहृत हुई है । इस भयन हाथ में लेकर ही भयानु तथा आशीर्ष नामक श्रुतिवत् आभाषण-कर्म की इति कल्पना पूरी करत हैं । पहिले अथवा 'आ भाषय' इस निगद मन्त्र का उच्चारण करता है अनन्तर आशीर्ष 'अथ भौगद्' इस निगद मन्त्र का उच्चारण करता है, यही प्रत्या भाषणानुगत आभाषण कर्म की इतिकल्पना है जैसा कि ध्यानानुगत पद्धतिप्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है । ब्राह्मण को १ २ ३ इन तीन कण्डिकाओं में उपपत्ति प्रदर्शन-पूर्वक इस आभाषण कर्म का ही प्रतिपादन हुआ है ।

वरण कर्म से पहिले आभाषण क्यों किया जाता है ? इसी प्रश्न का लोपस्तिक समाधान करती हुई भुक्ति कहती है—“यह आभाषण कर्म निश्चयन यत्न है” । वरण कर्म से इस श्रुतिवत् के द्वारा ऐतिह्यकल्पना का ही सम्मान आती है । दूसरे शब्दों में वरण कर्म एक प्रकार का यथाधिकार (ऐतिह्यकल्पना—निर्वाहाधिकार) प्रदान है । इस कलाधिकार प्रदानकथन वरण कर्म के उपक्रम में प्राकृतिक यत्न का सम्बन्ध अवस्थित है । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आभाषणकर्म यत्न का वरणकर्म से पहिले अनुगमन किया जाता है । ‘आ भाषय’ इस निगद मन्त्र का तात्पर्य यही है कि, जिसका भाव हम इस यत्न में वरण करना चाहते हैं उसे प्राकृतिक देवता स्वीकार करें । इसे हम आज के वरुणरूप यत्न कर्म के लिए आज हम दोता बना रहे हैं” यही आभाषण का निष्कर्ष है । आह्वित पार्थिव प्राय-देवताओं का आह्वान इष्ट द्वारा तानित यत्नावरण प्राय-देवताओं

के साथ अस्तम्योमि लक्ष्मणायक बनाना ही 'वच' है। आभावन कर्म से दिव्य प्राण-
देवताओं की दृष्टि चर्कित हल यन्त्रकर्म की ओर हो जाती है। पञ्चदेवता-ही वैष्णवात्मक
कर्म आभावन को बच कहा जा सकता है। इस प्रकार आभावन कर्म करना विष्णवात्मा-
त्मक यज्ञ का अनुगमन करना है। कितनी स्वरूप विविधता के लिए वचन कर्म असीम
है, आभावन कर्म से वह जमीनगत बने जाता है। अन्तर्गत वचन से पहिले आभावन-
कर्म आवश्यक बन जाता है ॥ १ ॥

किन्तु दर्शनश्रुतियों से (दर्शनश्रुत से) बहिरुद्गम-कर्म बोधे जात है। वे 'इष्टतत्त्वज्ञान'
(मन्त्रों का ज्ञान की दर्शनश्रुत) नाम से प्रकट हुए हैं। वेदिक कर्म जो तुल्य आदि लिख
पड़ते हैं उन्हें इतो दर्शनश्रुत से बढ़ाया जाता है। इस दर्शनश्रुत को हाथ में लेकर ही
अन्तर्गत आभावन कर्म करता है। आभावन कर्म इष्टतत्त्वज्ञान हाथ में लेकर कभी किया
जाता है। 'सी प्रसन्न का शोपचारिक समाधानक रती हुई भुक्ति बहती है कि, यदि वह
अन्तर्गत यज्ञात्मक इस इष्टतत्त्वज्ञान को आत्मजन बनाए किन्तु आभावन करेगा तो इष्टतत्त्व
अन्तर्गतसंस्था कर्मित हो जायेगी 'अथवा और किसी विधि का सामना करना पड़ेगा'।
शुद्धोक्त्य प्राण-देवताओं का आभावनकर्म आभावन-कर्म 'वच' है। किन्तु कि पूर्व
कथितका में यह किन्तु का सुखा है। 'वचकर्म आभावन कर्म वह ही आत्मजन बना
कर ही करना चाहिए' इस कथन से भुक्ति इष्टतत्त्वज्ञान को भी वचकर्म कहना पड़ेगा।
तत्त्वस्य इस कथन का नहीं है कि, वचकर्म अन्तर्गत-अधिष्ठातृ-अधिदेवता मेव के तीन
मात्रों में विभक्त है। तौरसम्पत्तयन्त्रिक, आधिपति-वर्त्मनोमात्मक, अन्तर्गत-
कथित वच आधिदेविक वच' है। पारिवर्त्यन्त्रिक-आधिपति-वर्त्मनोमात्मक,
मूळोपकथित वच आधिभौतिक वच' है। एवं वैष्णव-वर्त्मनोमात्मक, वारीयिक
वच आध्यात्मिक वच' है। आभावन कर्म व वैष्णवात्मक बनता हुआ आधिदेविक-
वच है। आभावनकर्ता अन्तर्गत आध्यात्मिक वच है। एव इष्टतत्त्वज्ञान निरामेन आधि-
भौतिक वच है। साथ ही विष्णुव्यात्मक पारमेश्वर अन्तर्गत के अन्तर्गतवर्त्मनोमात्मक से उत्पन्न
होने के कारण दर्म साक्षात्कार से भी पारिवर्त्य है। इस 'अन्तर्गत पुनर्जी' सिद्धान्त-
नुसार अन्तर्गत से उत्पन्न पारिवर्त्य वचकर्म (मेनात्मक) वच का सहायक भी है।

वच एक अन्तर्गतवच इस ओर के पारिवर्त्य (आधिभौतिक) अन्तर्गत के दिव्य

(आधिदैविक) कह, दोनों में अनुपहीत रहता है। सब तक इसका स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है। दोनों में भी पारिवर्तनीयप्रधाना अप्यत्नमन्त्रका भी प्रधान प्रतिष्ठा आधिभौतिक पारिवर्तक है। इस प्रतिष्ठा के निष्कर्ष जाने से ही निश्चयानुप्राय का आगमन होता है। प्रतिष्ठाविष्णुति से इस पर अन्त्यान्त विपत्तिर्वा आश्रयण करती है। जब पारिवर्तक प्रतिष्ठा उच्छिन्न हो जाती है, तो कबल दुःखोत्पादक का प्राधान्य रह जाता है। यह मोक्षोत्पादक प्राधान्य ही पारिवर्तप्रतिष्ठापद्धि का कारण है। पावदासुमौगप्यन्त उभया नुप्रवृत्ति के लिए ही शुभोत्तरवानीय आहवनीय तथा भूशोचरपत्नीय गाहपत्य दोनों के मध्य में लड़ होकर अथ उपराध (आचमन) कर्म किया जाता है जैसा कि —

— अस्तुप्रेष्यन्त्यस्तरेवाहवनीयस्य गाहपत्यस्य प्राङ् तिष्ठन्त्य उपगुणति” (दत्त १।१।१।१।)

इत्यादि रूप में विस्तार से कथनाया जा चुका है। ठीक वही प्रयोग्यता यहां अवस्थित है। यदि अन्तर्गु पारिवर्तक को आश्रयण बनाए बिना प्रशोकागुणत आधिदैविक पक्षसम्राट् आश्रायण कर्म करेगा तो विपुल दिग्भ्रम के प्राधान्य से हमकी पारिवर्तक यत्नप्रतिष्ठा पर आपत्त होगी। कथ्यः प्रतिष्ठाविष्णुति हो जायगी अथवा तो अन्य किसी विपत्ति का अनुगमन करना पड़ेगा। इस आशय में बचने के लिए आश्रायण कर्म करते समय (आधिदैविक कथमगति-समय करते समय) पारिवर्तक को आश्रयण बनाना आवश्यक हो जाता है। इसी उद्देश्य से इत्यन्तवदन का (पारिवर्तक विपत्तिवदन को) हाथ में लेकर ही आश्रायण कर्म किया जाता है ॥ २ ॥

इस (पृथिवी) के वेदि” (दत्त ७।१।१।१।१) भुक्ति के अनुसार आधिभौतिक पक्ष की प्रतिष्ठा (विस्तारवर्धन) पृथिवी है वही इस पक्ष की वेदि है। प्रकृत पक्ष में जो वेदि बनाई गई है वह निदानन पृथिवी-रक्षणीया ही है। यही इस पक्ष की प्रतिष्ठा है। यदि पर विष्टे हुए कर्मगुण भोगवि-व्यवहारी रक्षणीय है जिन्हें कथ-मन्त्रगुण की दृष्टि में वदित्य शरीर के लोभ (भोगवि) केन्द्र (पन्थरति) भी कहा गया है। अग्नि मन्त्रवर्धन करने के लिए तथा लामिनेनीकम्म-मन्त्रादन के लिए जो इष्ट मार (काष्ठमार) छाया जाता है वह निदानन अग्नि है। “उपो वनपु मात्रो लम्बा मर्षाग इत्यन्ते (ऋचन ८।१।१।१) इत्यादि मन्त्रभुक्ति के अनुसार काष्ठ में अग्नि लुप्त है। यही मृत्पमान अग्नि है जिसे अग्रवत्त लम्ब्य से वृत्त-मृग कहा जाता है। वेदि और इष्टकाष्ठ दोनों

पार्ष्व (भाष्यमौलिक) महात्मक है । आभाषण कर्म में पार्ष्व प्रतिष्ठा ही अधिक है । अतएव वा तो बेदि पर बिन्ने दर्मेतुल को लेकर आभाषण करना चाहिए, अथवा इप्प लण्ड को लेकर आभाषण कर्म करना चाहिए । बेदिमुल से ताछात् रूप के इप्प लण्ड से परम्परवा पार्ष्व प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है । इस उपपत्ति को भाष्य करते हुए बिन्ने एक साम्प्रदायिक आभाषण कर्म में बेदिस्थित दर्मेतुल, अथवा इप्पलण्डलण्ड का व्यर्थन कर रहे हैं ।

मगसात् वाक्यकर्म की दृष्टि में बेदिमुल, अथवा इप्पलण्ड, दोनों में से किसी को भी लेकर आभाषण कर्म करना विधानबिधक है । कारण यह है । यह ठीक है कि बेदि मुल तथा इप्पलण्ड दोनों ही पार्ष्व प्रतिष्ठात्मक हैं । कस्तु के बीजों अन्य कर्म में विनिमुक्त हैं । बेदिमुल को लेना एक दृष्टि से कस्तुल के बीज-बीजों का उपपन्न करना है दूसरी दृष्टि से पुषिबी की औषधि-वन्तरति को पुषिबी (बेदि) से पुष्क कर उसे कतर बनाना है । इस के अतिरिक्त बेदिस्थित दर्मेतुल 'कुत्ता मर' के अनुसार देवताओं का प्रतिष्ठात्मक आसन है । इसे उठाना भाक्त देवताओं को प्रतिष्ठा विष्णु करना है । ऐसी दशा में बेदिमुल प्रार्थन करना कर्त्तव्य अनुचित ठहरता है । इप्पकाष्ठ इप्पल-विमि-लन कर्म के लिए निवत है । इसका लण्ड लेना समित्यकर्म को अपूर्ण बनाना है । छत्ता इप्पलण्ड ग्रहण भी अनेक बन जाता है । आकाशकर्म इन साम्प्रदायिकों से प्रसन्न करते हैं कि, जिन दर्मेतुलों से इप्पकाष्ठ गाथा जाता है क्या वे इप्पलण्डलण्ड वक्षिण नहीं हैं ? क्या इनमें पार्ष्व प्रतिष्ठा नहीं है ? । जब कि इन दर्मेतुलों के कर्त्तात्मक इप्प कांचा जाता है, इन से अग्नि-सम्पार्जन कर्म होता है, आत्मजुषादिनिष्कर्मकर्म सम्पन्न भी कई एक परिशिष्ट कर्म होते हैं तो इन की वक्ष्यता में क्या लम्बेह रर जाता है । अतः वा इप्प लण्डलण्ड ऐसे ऐसे परिशिष्ट कर्मों के लिए ही निवत हैं ताब ही बेदिमुल, तथा इप्पलण्ड ग्रहण अनुचित है 'तो प्रत्येक दशा में इप्पलण्डलण्ड प्रत्यर्थक ही आभाषण-कर्म करना चाहिए ॥ १ ॥

२—दिन्याग्निप्रवरणकर्मोपपत्ति

कण्डिका ४ से आरम्भ कर ८ वीं कण्डिका पर्यन्त पाँच कण्डिकाओं में प्राकृतिक दिव्य प्राणाग्नि के वरण की शोपसत्तिक इतिकर्तव्यता का स्वीकरण हुआ है। दिव्य यज्ञ में होतृत्वेन वृत्त प्राणाग्नि के क्या क्या कर्म हैं, प्रतिपाद उपपत्ति प्रकरण में इसी प्रश्न का समाधान हुआ है। जिन इक्ष्मणभद्रहस्तन धर्मग्रन्थ-समूहों से ऋषियक्षाण-सम्भार बोधा जाता है पूर्वकथनानुसार उन्हे हाथ में लेकर वह अभ्यर्तु—‘ओ आभावन’ इति निगममन्त्र का उच्चारण करता हुआ ‘आभावन’ कर्म करता है। अभ्यर्तु के इति आभावन कर्म के अनन्तर आग्नीत्र नामक श्रुतिक् ‘अस्तु भीषद्’ इति निगममन्त्रोच्चारण त-प्रत्याभावन कर्म करता है। अभ्यर्तुकर्त्तक इति आभावन, तथा आग्नीत्रकृतक प्रत्या-भावन-कर्म के अनन्तर अबबहु उन इक्ष्मणभद्रहस्तनों को अपने हाथ में रक्ता हुआ ही—‘अग्निर्देवो देव्यो होता देवान् यद्यद्विद्वान्विद्विषान् धनुष्यस्त्रतवत्’ इति निगम मन्त्र का उच्चारण करता हुआ िम्याग्नि का ही अपने इति वेष यज्ञ में होतृत्वेन वरण करता है जो कि अभ्यर्तु कृतक कर्म ‘होतृप्रवरणकर्म’ कहलाया है।

यज्ञकर्म में होनेवाले होतृ कर्म की इतिकर्तव्यता जिस श्रुत्येवी श्रुतिक् द्वारा गम्यन होती है वही ‘होता’ कहलाया है। होतृकर्मोत्तिकर्तव्यता-सकृप अधिकार प्रदान क-रिष्य होने वाला अभ्यर्तुकर्त्तक कर्म ही ‘होतृप्रवरण’ कर्म है। इस मानुष होतृप्रवरण कर्म से पहिले दिव्याग्नि का सम्बन्ध करना क्यों आवश्यक समझा गया? दूसरे कर्मों में दिव्याग्निवरण क्यों अपेक्षित है? इसी प्रश्न का शोपसत्तिक समाधान करती हुई श्रुति करती है कि, इस वरणकर्म से देवताओं के होता अग्नि से तथा प्रायदेवताओं से अपनी पूजता का ही निराकरण किया जाता है। तात्पर्य यही है कि, प्राकृतिक साम्प्रतिक, अग्नीरोमात्मक वह ही वास्तविक यज्ञ है। इस यज्ञ का होतृत्व पार्थिव प्राणाग्नि पर अब-लभित है। पार्थिव प्राणाग्नि के ‘प्रति-मेति’ अर्द्ध गमनागमन आगार से ही गारमेष्ठ्य सोम का आहरण होता है। शुक्लाधिक इति गायत्र्याग्नि से अग्रहण सोम ही पार्थिव आ-ग्नेय ११ प्राय देवताओं के यज्ञ का स्वरूप सग्राह्य बनता है। इस यज्ञवन्धन-निष्पत्ति के अतिरिक्त सुलोचन्य तौर-तारिख दक्षिण का पार्थिव प्राणाग्नि के साथ सम्बन्ध बनाना भी उक्त अर्द्ध गायत्र्याग्नि का ही कर्म है। इस देवाह्वान सभ्य दक्षरजन (दे

तन्मयी है। प्रकृत में तान्त मनुः शब्द का ही ग्रहण हुआ है। पञ्च 'मनुष्यत्' का का तात्पर्य निश्चयता है—'मनुरिव'। किन् प्रकार मनु ने यज्ञ किया था एषमेव यह प्राजापति भी होता बन कर इस यज्ञ में देवताओं का यजन करे 'मनुष्यत्' मन्त्र माग का यही एक तात्पर्य है। यदि मनुष्यत् का मनुरिव विग्रह न कर मनोरिव यह विग्रह किया जाता है तो इसका तात्पर्य यह निश्चयता है कि जब मनु क यज्ञ में होता बन कर अग्नि ने देवताओं का यजन किया था तपेव इस यज्ञ में भी वे अग्नि होता बन कर देवताओं का यजन करें। मनुः काऽयमे कर्त्तेवे' इस से मनुरिव विग्रहानुसार प्रथमार्थ अपेक्षित है। एव मनोवच्छेत्सु वा आहुः इस से मनोरिव विग्रहानुसार द्वितीयार्थ अपेक्षित है। प्रथमार्थ स आधिभौतिक मनु का सङ्कीर्ण हुआ है द्वितीयार्थ स आध्यात्मिक मनुष्य आधिदैविक मनु का सङ्कीर्ण हुआ है। हृदयवच्छिन्न उक्त्व माव मनु है परिष्कृष्टमन्न अर्क माव (रश्मिमाव) प्राजापति है। उक्त्वार्क का चर्क स्थान भद्र स पार्यवय है अन्त्य मनु का पुष्य तवा अग्नि का पुष्य तत्त्व मान किया गया है। एव इती इष्टि से मनोरिव का समन्वय हो जाता है। तत्त्वतः उक्त्वार्क अभिन्न है। इस इष्टि में उक्त्व मनु और अन्न अग्नि दोनों अभिन्न हैं। इसी आधार पर—'यतमके वृत्तस्य मनुमन्वे' (मनुः १९।१९१) यह कहा जाता है। हृदयवच्छिन्न उक्त्वमन्त्र मनु से युक्त तन्मय अतएव तन्मिन्न अतएव तन्मय प्राजापति ही यज्ञ स्वरूप मन्त्रादिक है मनुष्यत् का यही तात्पर्यार्थ है ॥ ७ ॥

मन्त्र का अन्तिम भाग मन्त्रवत् है। इस प्राजापति वृत्ते (देवा उग्रीपति) (ऐ आ २।१८८) इत्यादि वेदमन्त्र अति के अनुसार यज्ञोक्तमन्त्र सप्तमन्त्र मन्त्रमे प्रतिष्ठित मीन स्थित देवताओं का जो प्रथम भाग पार्थिव तम में स्थित (मन्त्र) होता रहता है पार्थिव अद्विरोऽग्नि मायक प्राजापति द्वारा वह विद्यमान भाग यहाँ से आ कर उन स्थित भाग की पूर्ति किया जाता है। एत एव उग्रीपति विस्तृतमन्त्रादन्तर्गतामिन्द्रमो ययु इत्यादि मन्त्र वर्णन के अनुसार मूषोक से निकल कर ग लोक की भोग जाता हुआ अद्विरोऽग्नि ही देवतत्त्वितुषि का वाग्व बनता है। अमुन प्राजापतिदं मन्त्र भुविष्ठ (ऐ आ २।१९१) क अनुसार वहाँ से (ग लोक में) देवप्राजा का प्रथममन्त्र में निम्न भागजन होता रहता है इसी से प्रजा स्वरूप निर्माण होता है। एव पूर्वक

नानुसार अग्निरा द्वारा पार्थिव प्रकर्ष भाल का जाता भी खटा है। इसी वाक्यार्थक
 भाल-प्रकारकण भालान-प्रदान प्रविष्ठा का नाम 'अर' है। इन वाक्यार्थक का ही
 सुलोचन देवताओं के लिए पार्थिव हविर्भाल का लेखना एकमात्र पार्थिव प्रकर्ष का
 ही अभ्यन्त्रित है। इसी लिए हमें—'एव हि देवेभ्यो हव्यं भरति' निर्णय के 'अर' का
 करना अनिवार्य करता है। भृगुविष्णु से सम्बन्ध रखने वाले हविर्भाल (प्राकृतिक) से ही
 पार्थिव प्रका का स्वल्प-निर्माण हुआ है। इस पार्थिव प्रका में मौम प्रकर्ष का ही
 प्रतिष्ठित रहता है जिसे 'पितृव्यालोपनिष्ठा' की परिभाषा में 'वाताग्नि' भी कहा गया
 है। प्राजापत्य एषेत्स्मिन् पुरे (छरीरे) वाताग्निं (इत्योपनिष्ठा ४।१।) के अनुसार
 भाल, समान ज्ञान उभाल, वायु, मेघ मिश्र कलावा किमल प्राजापति ही इस कठो-
 पनिष्ठा (धर्म्यात्मकता) में कहा जायते रहते हैं। इस प्राजापति के द्वारा ही प्रका का
 मरक-पोषण होता है। कित दिन प्राजापति छरीर से उत्पन्न हो जाता है अनाद्य-
 काल अहरर्षभ (मेघवक्त्र) कह हो जाता है उत्पन्न सूतान्ता उत्पन्न हो जाता
 है। इस अध्यात्म कला की दृष्टि से भी 'अनाद्य' काल इस अग्नि को 'मरत' करना
 अनिवार्य करता है। कित युग (देवयुग) में इसी पृथ्वी पर मौम-देवताकला की उक्त
 युग में जैसे मौम-स्वग के छन्दोपात् (अच्छाया अचिह्नता) देखा हम दे, अनाद्य
 के छन्दोपात् बात दे, एवमेव स्वयम्भू मनु कला से उत्पन्न इस पृथ्वी के
 छन्दोपात् अग्नि देखा है। पार्थिव प्रका से 'अर' काल कल देखाओं के प्रति उसे
 बुझाना, पार्थिव प्रका की वायुदेवादि के कलाओं से मरक-पोषण कला करना इसी
 मौम अग्नि देखा (मनुष्यदेखा) का कार्य था। इस आध्यात्मिक (ऐतिहासिक)
 दृष्टि से भी अग्नि को 'मरत' करना अनिवार्य करता है। इसी मरक-पोषण वर्म से वे
 अग्नि मरत, किंवा 'मरत' कहाया है। इसी के सम्बन्ध से वह पवित्र देव 'मारुतर्ष' कहा
 जाता है। कित प्रकार उक्त तीनों कल-कलाओं का कलात्मक मरताग्नि से हुआ है
 एवमेव हमारे इस वेद यज्ञ की इतिहासकता भी उसी मरताग्नि से सम्बन्ध हो, इसी
 कला के लिए 'मरता' कहा गया है ॥ ८ ॥

३—आर्षेयशरणकर्मोपपत्तिः

‘अग्निदेवो देव्यो होता’ इत्यादि मन्त्रपाठ द्वारा अपने इस वैश्व यज्ञ में प्राकृतिक दिव्य प्राणों की याचना करना ही अग्नि का होतृत्वेन वरण करना है जिस का ४ से ८ वीं कण्डिका पर्व्यात् ३ कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है। अब क्रमशः आर्षेय शरण कर्म की उपपत्ति का दिग्दर्शन कराया जाता है। यज्ञका यजमान क ब्रह्मगौरव का कीर्तन ही ‘आर्षेयशरणकर्म’ है। इस कर्म से यज्ञाधिकार योग्यता का ही सम्पन्न हुआ है। यज्ञकर्म लौकिक कर्म नहीं है अपितु वैदिक दिव्य-कर्म है। लौकिक कर्म का अधिकार कहाँ मनुष्यमात्र को है वहाँ वैदिक यज्ञ-संस्कार-कर्मवर्षी का अधिकार एकमात्र दिवादि प्रजा को ही है जिसके बीज में सम्पत्तः श्रुतिप्राप्त, तथा देवप्राप्त प्रतिष्ठित रहता है। यह वैश्व वैदिक-यज्ञकर्म प्राकृतिक नित्य दिव्य यज्ञ की विधि पर कियत होता है, जैसा कि अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है। प्राकृतिक यज्ञ तत्त्वस्वरूप है, जैसा कि हमी ब्राह्मण की १६ वीं कण्डिका में स्पष्ट होने वाला है। तत्त्वस्वरूप का ‘अद्वितीयमण्डल’ से सम्बन्ध है। इन अद्वितीयमण्डल के गर्भ में विद्युत्सालोमावच्छिद्य अग्निप्रधाना पुष्पिणी यज्ञसंस्तोमावच्छिद्य वायुप्रधान अन्तरिक्ष एरुविद्युत्सालोमावच्छिद्य इन्द्रप्रधान सुलोका ये तीनों स्तोम्यमण्डल प्रतिष्ठित हैं जैसा कि— ‘अग्निर्द्यौर्दन्तिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः’ (ऋक् ३ १।८।९।१०।) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। अद्वितीयगर्भ में प्रतिष्ठित अग्निप्रमुख पार्थिव ८ वसुदेवता वायुप्रमुख अन्तरिक्ष ११ रुद्रदेवता इन्द्रप्रमुख दिव्य १२ आर्तिव देवता मानस्य-दिव्य नामक ९ तत्त्व्य देवता सम्पूर्ण ३३ प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। ये ही ३३ देवता अग्निप्रमुख तत्त्वस्वरूप के स्वयं सत्ताशक्त हैं। अतएव— ‘यस्य त्रयस्य विषय मनोर्द्धवा यजिमानः’ (ऋक् ३ ८।१।१२।) इत्यादि अग्नि के अनुसार य ही देवता यज्ञिय देवता वन्द्य है। इन तत्त्वस्वरूप में प्राण-वास, मर्यादा मायह्वाय मेरु से तीन तत्त्व हैं। वसु-देवतानुगत प्राण-वास प्राण-तत्त्व है रुद्रदेवतानुगत मर्यादा मायान्दिनतत्त्व है एवं आर्तिवदेवतानुगत मानस्य मायतत्त्व है। रात्रिगत पूराप्राण इन तत्त्वत्रयामक तत्त्वस्वरूप यज्ञमण्डल की सीमा में बहिर्भूत है। मानस्यत्रया में से जिनके बीज्य में अन्तरिक्ष प्रातः तत्त्वतीय देवता प्रतिष्ठित रहते हैं वह त्रयया ब्राह्मण है। जिनके बीज्य में मायान्दिन-

श्रुति तथा वेदप्रमाण दोनों का बीर्य से सम्बन्ध है न कि कर्म से। अन्ततः श्रुति एवं वेदप्रमाण का सम्बन्ध बीर्य में रहना चाहिए। यही द्विजाति है, यही यज्ञाधिकारी है। इस अय्यानुगत बीर्यभाष (जातिभाष) का दृष्टीकरण करने के लिए ही कहा गया है— भव महाबीर्या यो यत् प्राप्तः। इसी बीर्यस्थापनद्वारा ब्रह्मज्ञान का यज्ञाधिकारस्व स्वरूप करने के लिए आर्षेयकरण होता है। एवं यही इन कर्म की महिमा उपपत्ति है— छमागार्षेयं प्रवृत्ति ॥ ६ ॥

उपपत्त्यन्तर वर्य-विशेषता बतलाती हुई अति कहती है कि, सृष्टिकर्म के अनुरोध में पितामह पिता पुत्र इस क्रम से ही श्रुतिवश-परम्परा का उत्प्रेक्ष्य होना चाहिए। इस सृष्टिमय्यांग के सम्बन्ध के अतिरिक्त स्वयं यज्ञकर्म की दृष्टि से भी 'परस्तात् अर्वाङ्' ही बतलाना चाहिए। देवदत्तमन्त्रणा दिव्यप्रबोत्पत्ति ही यज्ञकर्म का प्रधान सत्य है। एवं उत्पत्ति क्रम में पितामह-पिता-पुत्र वीर्य क्रम है। अतः इस प्रबोत्पादक यज्ञ कर्म में भी आर्षेयकरण करते समय पहिले ब्रह्मज्ञान के पितामह का, अनन्तर पिता का स्वान्त में पुत्रस्वामीय ब्रह्मज्ञान का नामोत्प्रेक्ष्य करना आवश्यक तथा क्रमसङ्गत है— तस्मात् परस्तादर्वाङ् प्रवृत्ति ॥ १ ॥

— ३ —

४—अग्नि ब्राह्मणानुग्रहप्राप्तिकर्मोपपत्ति—

श्रुतिवश प्रवृत्त तथा अय्यानुग द्विजाति यह ब्रह्मज्ञान यह का अधिकारी भवत्य है परन्तु इन का यह अधिकार तबतक कार्यक्रम में परिणत नहीं हो सकता जबतक कि इन के इन ब्रह्ममण्डल में आह्वानीवाग्निकुण्ड में दिव्य प्राणदेवताओं का सम्बन्ध न हो जाय। यह वेदाह्वान कर्म एकमात्र ब्रह्मवीर्य प्रवृत्त प्राणाग्नि तथा तद्बीर्यप्रधान श्रुतिग ब्राह्मणों के अनुग्रह सहयोग पर ही निर्भर है। दिव्याग्निवरण से अग्नि देवता ब्रह्ममण्डल में पञ्चा भवत्य भात है परन्तु प्रवृत्ति के नियत मूल के आधार पर इन का वेदाह्वान कर्म तो वैज्ञानिक, भग्नज्ञान उन ब्राह्मणों व सहयोग पर ही अवलम्बित है जो उन पराभ प्राकृतिक मूल सत्य आधार का मन्त्रात्मक स्तोत्र-शान्ति-मन्त्र आदि कर्मों व हाग मन्त्र करने की शक्ति रखते हैं। अग्निदेव देवो होता इत्यादि पूर्वोक्त निग मन्त्र में आगत अग्नि का दाम्पत्यन वर्य कर लिया यज्ञाधिकारीय परब्रह्मज्ञान व

वर्मकल्पन लक्षण आर्त्तकल्पन से इसे कदाधिकारी भी सिद्ध कर दिया गया। यह मान्य, तथा हत अग्नि के देवादानन्दन अनुग्रह की तथा कल्पकल्पकर्मक प्राप्ति के अनुग्रह की अपेक्षा है। इसी उन्मोहेन सिद्धि के लिए आर्त्तकल्पकल्पक/ देव मानुषदोषकरण से पहिले— ब्रह्मकदा च कदा, ब्राह्मणा अथ कदा प्राप्तिता' इति विमदमन्त्र का वाड किया जाता है किंतु का कल्पार्थ कृत्मानुवाक से कर्तव्य है ॥ ११, १२॥

— ४ —

४—मानुषदोषवर्गकोषवि—

प्राणविष लक्षणप्रकार में होता भवन्तु उद्भवा ब्रह्मा वरमान आदि का प्राणविष ही है। इन प्राणविष प्राकृतिक का भी विधा पर क्लिप्तमान हत प्राणीविष मानुष यम में श्रुतिक् वरमाना' कल्पकल्पकर्मक भी प्राणीविष ही है। काल-पुष्टिम्य प्राणात्मक लक्षणप्र प्रकाशित (वरमान) के अनुग्रह अपनी कपी के कल्पकर्म म पुनर्वीर्य कला हुआ पक्ष लक्षणक से कृत्मानि कला हुआ वरमान प्राणीविष वरमान है। प्राणविष अग्नि वायु आदित्य कल्पमा इन होता भवन्तु उद्भवा ब्रह्मा नामक श्रुतिवों के अनुग्रह प्राणीविष अन्वयुद्धति श्रुतिव का वाता ब्राह्मण होता है। प्राणी वायुनुपरीत कर्तव्य का अनुग्रह ब्राह्मण अन्वयु है। प्राणी-आदित्यानुपरीत लक्षण' का अनुग्रह ब्राह्मण उद्भवा है। सर्व प्राणीविष कल्पमानुपरीत अपवर्ण' का तथा अर्त्तकर्मिता प्रतीकित का परिकल्प ब्राह्मण ब्रह्मा है। जो श्रुतवर्ती ब्राह्मण कदा दोष-कर्म के लिए निरत हुआ है, प्राणाति कल्पकर्मक उन्मदा कर्म हाना भी आवश्यक है। इन वरकर्म में लक्षित का ब्राह्मण भवता है भली यह देवादानन्दन में भविष्यत है। इन भविष्यक प्रदान के लिए ही भविष्यकप्रदानस्था नीध वरक दिया जाता है। इन प्रदान ब्राह्मणक भाषावच, दिव्याविषयक आर्त्तक वरक भवि-ब्राह्मणानुग्रह लक्षण' इन कर्मों के कमानुदान के अनन्तर वह भवन्तु — भली मानुष — इस निगम मन्त्र का वाड करता हुआ दाव कर्म के लिए भावता मानुष होता का वरक करता है। यही प्राकृतिक दाता (भग्नि) का प्रतिनिधि है ॥ १३ ॥

— ५ —

६—स्वस्त्ययनप्रयोगपद्धति—

भारतवर्षप्रसिद्ध 'अमौ मानुष' इन निम्न मन्त्र से होश-कर्म के छिपे हुए होता मात्र वास्तव में होता बन गया है। उनी क्षण से उस पर उम सम्पूर्ण उत्तराधिकार का भार आगया है जो होश कर्म से सम्बन्ध रखता है। अपने इनी उत्तराधिकार को सफल बनाने की कामना से होता स्वस्त्ययन' करता है जिस का प्रथमार्थ तात्पर्य यही है कि प्राकृतिक सम्बन्धरूप के सञ्ज्ञात्मक जिन प्राणदेवताओं व अनुग्रह से मनुष्य अपने प्राणवीर्य कर्मों में सम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ होता है उन प्राणदेवताओं का मन्त्र-शक्ति द्वारा अनुग्रह प्राप्त करना। जिन प्रकार छात्राधिकारार्थ अधिकारी अधिकार प्राप्त होता ही अधिकारसिद्ध कर्मों को अपने स्वयं में ले जाता है ठीक उसी प्रकार वरुण कर्म से होश-अधिकार प्राप्त करते ही होता उन प्राणदेवताओं की ओर अनुगत हो जाता है जिन का इसे मन्त्र में आवाहन करना है। प्रत्येक कार्य में निरुद्ध होने से पहिले यह आवश्यक है कि उन कार्य की सम्पूर्ण कसरेखा का चित्रण अपने अन्तर्गत में लक्षित कर लिया जाय। ऐसा करने से मन्त्र में ब्रह्म होने की सम्भावना नहीं रहती। जो व्यक्ति बिना अधिकारमर्यादा कर्ममर्यादा का निबन्धन किए इष्ट कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं भवस्त ही अपने स्वामाधिक अस्तुभाव से वे गलती कर बैठते हैं। जिन देवताओं का आवाहन करना है जिनके छिपे वाङ्मय करना है जिन के लिए हविर्दान करना है उन सब प्राणदेवताओं व उन सब कर्मकर्मों को वरुण-मन्त्र ही मन्त्र में ले आने का क्रिय स्वस्त्ययन-कर्म विहित है। यही इन कर्म की साधनीति-सम्मत मर्यादा उपपत्ति है जिन का १४ वीं बर्णिका में स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १४ ॥

१५ वीं बर्णिका से आरम्भ कर २६ वीं बर्णिकापर्यन्त (ब्राह्मणमासि पथ्यन्त) स्वस्त्ययन कर्म से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्रों की गोपयित्व व्याख्या हुई है। उनी का क्रमशः विवरण कराया जाता है। सर्वप्रथम यह होता—यत्तत्त्वा देवताविहृत यत् यद मन्त्र बोधना है। इस व द्वारा हाता लक्षित की ही अनुज्ञा प्राप्त करता है। यह ठीक है कि मन्त्र वाङ्मय प्राकृतिक होता अग्नि का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ यह मनुष्य होता वरुण प्राणदेवताओं व आवाहन में समर्थ हो जाता है। परन्तु इन आवाहन कर्म की मूल

प्रतिष्ठा नक्षिा देवता ही है। सौरमण्डल को अपने धर्म में रखने वाले ब्रह्मदेव का
 मंदी के चारों ओर बृहस्पति, ब्रह्मस्पति, कवच कविता, आदि ब्रह्मदेव उपर उनी
 प्रकाश परिक्रमा बना रहे हैं जैसे पुष्पिनादि उपर सूर्यमण्ड के चारों ओर। उर
 पारमेष्ठ्य उपर में से 'लक्ष्मी' नामक उपर का लक्षण कर्म है—ब्रह्मदेव प्रदान
 करना। सौर निक्षीपी में किन प्राण देवताओं के जो भी कर्म हैं उन लक्ष का प्रेरक
 नक्षी लक्ष्मी प्राण है। अतएव इसे देवताओं का प्रवक्षिता (प्रेरिता) कहा गया है।
 इस पारमेश्वर लक्ष्मी की प्रेरणा का सर्वप्रथम सूर्य में भाग्यमान होता है अतएव सूर्य
 को भी वन लक्ष 'लक्ष्मी' नाम से सम्बोधित कर दिया गया है। सूर्यदेव ही सौर
 निक्षीपी में प्रतिष्ठित प्रकाश में लक्ष्मीप्राण के प्रेरणा का का भाग्यमान होता है किंतु का
 आधार है—'बृहस्पति'। लक्ष्मी का बृहस्पति से सम्बन्ध है। क्योंकि—'बृहस्पतिः
 पूर्वोत्तराश्विनी मयति इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः' इति नियम क अनुसार सूर्य से पूर्व जोनों में
 नक्षत्र में बृहस्पति प्रतिष्ठित है उत्तराश्विनी में नक्षत्र में इन्द्र (सौर मयता) प्रतिष्ठित
 है। इन्द्र स उपर बृहस्पति * है तनुपरि ब्रह्मस्पति है एव इसके उपर लक्ष्मी है।
 लक्ष्मी प्राण का (अर्द्धमण्ड से) भाग्यमान पवित्रवर्मा ब्रह्मस्पति तथा सर्वत्र प्रवर्धक
 बृहस्पति इन दोनों पारमेष्ठ्य उपर में सन्निभ हो कर ही (सौर इन्द्रमण्डल में)
 हाया है। वायव्यपति बृहस्पति ही अप्स वायव्य नामक 'लक्ष' कर्म से बृहस्पति में
 उन ब्रह्मदेव का भाग्यमान कर्म है जो ब्रह्मदेव लक्ष्मीप्राणानुसार प्रेरणा से भाग्य
 कालविक्रम का प्रवर्धक बनता है। इसी मन्त्रमन्त्र से लक्ष्मी को 'वी' का प्रवर्धक
 माना गया है जैसा कि—'तत्तन्निक्षीपवत् विबो को न प्रचोदयन्त' इत्यादि मन्त्रवर्णन
 में प्रमाणित है। तत्प्राप्त पक्षी है कि लक्ष्मी प्राणदेवताओं का कर्मकर्म में प्रवृत्त होना
 लक्ष्मीप्राण क प्रेरणा का पर ही अवसरमय है। जब तक वह होता भयन भाव्यात्मिक
 लक्ष्मीप्राण में आधिपत्यिक लक्ष्मीप्राण का कर्म प्राण नहीं कर लेता तब तक अव्यक्त-
 दवानुगत आधिपत्यिक प्राणव्यवस्थापन इन कर्मकर्म में वह आधिपत्यिक प्राणदेवताओं
 का अनुपपन्न प्राण नहीं कर सकता। नक्षी लक्ष्मीप्राणानुसार प्राण व विष्ट मय में पक्षिके

* यद् बृहस्पति नक्षत्रात् सौ उपाय भूत बृहस्पति न निम्न है।

इसे मन्त्र द्वारा बड़ी भावना करनी पड़ती है कि,— हे भक्ति देवता! देवाङ्गान् मन्त्र
दोषकर्म के लिए मन्त्र व्यास से अन्वयु मोग वन्तुः आप का ही वरण कर रहे हैं ।

इस प्रकार सर्वप्रथम भक्ति का अनुग्रह प्राप्त कर अनन्तर—‘भस्मि दोषाव’ इस
मन्त्र से भस्म तथा भस्मिभय १३ यज्ञिक देवताओं का अनुग्रह प्राप्त करता है । दोष
कर्म का उत्तरदायित्व भस्मि पर ही है वह अनकषा स्पष्ट किया जा चुका है । साथ
ही—‘तन्मये चरेतरेवेम्यथ’ ‘त्वादि’ कण्टिकाशय का शरीकरण भी पृथ सं गताय
है—(इतिच प्रकृतं वा ४ कण्टिका) ॥ १५ ॥

आधिभौतिक मायनों के द्वारा भाव्यात्मिक यज्ञ का जिन आध्यात्मिक यज्ञ से
सम्बन्ध प्रपेक्षित है वह ‘सम्बन्ध’ नाम से प्रसिद्ध है । सम्बन्ध यह ही तद्वत्ता
प्रजाः सृष्ट्या इत्यादि के अनुसार चतुर्दशमूलमर्गात्मिका प्रजा का प्रजनपिता (उत्पादक)
है । सम्बन्ध का प्रथम वेतो भाग पार्थिव योनि में आदृत होता है । इसी प्राजा-
पुत्रिण्यस्य के श्रमस्य से प्रबोधयति हुई है । अतः भवत्य ही सम्बन्ध को पिता कहा
जा सकता है । अग्निमय श्रुत अग्नि तथा उत्तरस्थ श्रुत सोम दोनों के उद्गम
निगम में ‘श्रुत’ का स्वरूप निम्न होता है । श्रुत समष्टि ही सम्बन्ध है । प्रत्येक
वस्तु स्वातन्त्र्य श्रुत मात्र को लेकर ही प्रादुर्भूत होती है । इस दृष्टि से भी श्रुतसमष्टि
एव सम्बन्ध को पिता कहा जा सकता है । कि सम्बन्ध अपने तीन सन्तानों से
‘बेभानर’ बन रहा है । मूर्तिपुत्र के अद्विष्टपुत्र से मन्त्र जित्स्लोम प्रावत्सक है
पत्नी स्वामिनीकीर्य सम्बन्ध का पुत्रिणीका है बही पहिला बिध है इसी में पत्नी
कषारप्र भस्मि (भस्मि) नामक नर (नायक) प्रतिष्ठित है । चित् पुत्र से मन्त्र
पञ्चमस्तम माप्यन्तिन लवन है यही सम्बन्ध का अन्तर्गिह स्त्रिय है यही दूसरा
बिध है इसी में मन्त्रावधारण अग्नि (वायु) नामक नर प्रतिष्ठित है । पञ्चम
पुत्र में लवन् एकविंशत्याय मापनक है यही सम्बन्ध का तृतीय है यही तीसरा बिध
है इसी में रिम्यावधारण अग्नि (आदित्य) नामक नर प्रतिष्ठित है । सम्बन्ध
प चित्-पञ्चम-एकविंश शततीय पुत्रिणी अन्तर्गिह का नामक तीन बिधों के अग्नि-
वायु आदित्य नामक तीनों नरों के पारस्परिक यज्ञ मन्त्र में सम्बन्ध त्रिमाकी में राज
निगट निगटग १-मन्त्र नामक तीन अपूर्व मायों का उन्म हाता है । चित्-अग्नि में

पञ्चरस वायु एकविंश आदित्य दोनों की आहुति से अग्निप्रधान त्रिमूर्ति पितृ-भगवत्-सम्भ होता है, यही 'विराट्' है। पञ्चरस वायु में त्रिदशति, एकविंश आदित्य दोनों की आहुति से उत्पन्न वायु प्रधान त्रिमूर्ति उत्पन्न ही 'हिरण्यगर्भ' है। एकविंश आदित्य में त्रिदशति पञ्चरस वायु, दोनों की आहुति से उत्पन्न आदित्य प्रधान त्रिमूर्ति उत्पन्न ही 'सकल' है। तीनों के अग्नि-वायु-आदित्य-आधान व्युत्पन्न करने के लिए कहाँ विराट्-हिरण्यगर्भ-सकल के तीन पुष्प पुष्प नाम हैं, कहाँ तीनों का सम्बन्धमय एक नाम 'वैश्वानर' है। 'विराट्मेवो नरेवो वातो वैश्वानरः' इस त्रिरूप के तीनों त्रिमूर्तियों का वैश्वानर स्वरूप है। अतएव विराट्-हिरण्यगर्भ-सकल त्रिमूर्ति सम्बन्ध की मुक्ति में—सम्बन्धारी वे पितृ वैश्वानर कह दिये हैं। यह द्वारा यही वैश्वानर उपाधि प्राप्त है। केवल अग्नि व अनुब्रह्म से ऐसा सम्भव नहीं है। अतएव कहाँ अग्नि का वह व्यापक स्वरूप अवैश्वानर है जो सम्बन्ध रूप से विराट् वैश्वानर रूप से वैश्वानर में प्राप्त है। इसी भावना के लिए—'अग्नि होवाच त्वं पितृ वैश्वानरेण' इस रूप का वह विराट् कहा है।

| | | |
|------------|----------------|---------------|
| पृथिवी | अन्तरिक्षम् | पृथ्वी |
| त्रिदश | पञ्चरस | एकविंश |
| (६) | (१५) | (२१) |
| मातृ-भवनम् | मातृभूति भवनम् | मातृभूतिभवनम् |
| धनाग्निः | समाग्निः | विराट् |
| (अग्नि) | (वायु) | (आदित्य) |

- | | | | |
|---|--------------------------|---|----------------------|
| १ | अग्नि वायु आदित्यः | } अग्निप्रधानत्रिमूर्ति-विराट्—वैश्वानर | } सम्बन्धमय वैश्वानर |
| २ | वायु अग्नि आदित्यः | | |
| ३ | आदित्य अग्नि वायु | | |

स्वस्वपनत्र मन्त्र का अगला भाग है—“अग्ने ! पून ! बृहस्पते ! प्र स वः स स वः” । अनुपचन, भोर वचन कर्मों में पार्थिव अग्नि, पार्थिव मूल, एवं वाक् ये तीनों नाचन भवेदित्त है । पार्थिव मूलभाग वचन कर्म का अनुगामी है वाग्भाग अनुवचन कर्म का अनुगामी है । जिन अग्नि का वरण किया जाता है वह प्राचापुषिषी में ज्ञात वैश्वानर का पुत्र प्राचाग्नि या एव प्रलुप्त मन्त्र में, पठित अग्नि भूविष्णुऋता पृथिवी स सम्बन्ध रखने वाला मूलाग्नि है । इन मूलाग्नि, का पोगव जिन पार्थिव प्राण स होता है वह ‘पूरा’ नाम से प्रसिद्ध है । शुक्लसृष्टिप्रवक्तृ अद्वैतक पूरा प्राण रवती-न्मनात्मक पूराप्राण, आन्तिस्सख्य पूराप्राण, तीनों में स प्रकृतमन्त्र के ‘पूरा’ शब्द से अद्वैतक पार्थिव पूराप्राण ही अभिप्रेत है । वाक्-गौ-द्वौ ये तीन पृथिवी के मनोता माने गए हैं । इन तीनों में पार्थिवी वाक् का बृहस्पति स सम्बन्ध है जिस बृहस्पत्या वाक् स पार्थिव वाक्कार का स्वरूप निर्माण होता है । पार्थिवी गौ का अग्नि स सम्बन्ध है, जिन स—“गौर्वा अग्निहोत्रम्” क अनुसार पार्थिव अग्निहोत्र पक्ष लग्न होता है । एव पार्थिव द्यौ मनाता का पूरा स सम्बन्ध है । इन तीनों पार्थिव तत्त्वों क सम्बन्ध स ही पार्थिव यज्ञ क वाग्या, तथा अनुवाक्या कर्म लग्न होते हैं । मन्त्र द्वारा उन्हीं तीनों का लग्न किया जाता है ॥ १६ ॥

स्वस्वपन त्रमन्त्र का अगला भाग है—“वसन्तं रातौ स्वाम, दद्यान्नानुम्यान्, ज्ञा-
दित्वा अत्रितथ स्वामानइत्त । पार्थिवयज्ञ के पाकयज्ञ कितानयज्ञ मद से दो विवर्त
हैं । रमात्त एव यज्ञ पाकयज्ञ है । भीत प्रेतान्नियज्ञ कितानयज्ञ है । पार्थिव गार्
फ्याग्नि का अनुदकता स आन्तरिक्ष विष्णवाग्नि का उद्धारणता स तथा दिव्य आर
यनोवाग्नि का आदित्य वृषता स सम्बन्ध है । दृक्त्रयी स अनुष्टुप्तीत अग्नित्रयी का
कितान (पृथिवी स ऋक् वाक् पथ्यन् वेलाय) ही कितानयज्ञ है । इन तीनों गमवेदताभी
स लग्न स प्राकृतिक कितान यज्ञ की लग्नति का लग्न हो जाता है । प्रकृत मन्त्र स
उन्ही कितानलग्नति का लग्न किया जाता है । पार्थिव अन्नलग्नति, पशुलग्नति, तथा
द्रव्यलग्नति, तीनों की लग्नति ‘राति’ है । जिन दीक्षन् वरा जाता है उन्ही के द्वि
ये स ‘राति’ दाय प्रमुक्त हुआ है । यह ‘राति’ अन्न-पशु-द्रव्य मद स किया विमक्त
है । एव तीनों का पार्थिव अनुदकता स सम्बन्ध है । अतएव लग्नति को वसु भी

में प्रतिष्ठित है *। अद्वित्ये स्थामानेहता' इस मन्त्र भाग से सर्वान्त में उमी देवमाता
भरति का अनुग्रह प्राप्त किया जाता है ॥ १७ ॥

म्वस्त्यन्मन्त्रमन्त्र का अगला भाग है—“तुष्ट्यामथ देवेभ्यो वाचमुपासम्”। होश
कर्म की सदासता के लिए जिन जिन देवताओं का अनुग्रह अपेक्षित था, पूर्वमन्त्रभागों
के रूप से होता ने यह प्राप्त कर लिया। अब यह स्वयं अपने उस आप्यामिक वाङ्मय
देवता के अनुग्रह की कामना कर रहा है, जिस की प्राप्ति से सब कुछ सफल है, एवं जिस के
अभाव में सब कुछ व्यर्थ है। अनुपचन कर्म से सम्बन्ध रखने वाले जिन देवताओं के
लिए होता अनुकम्पा करता है यदि उन मन्त्रों के उच्चारण में अक्षर-पत्र-वाक्य आदि
का उच्चारणसौष्ठव-माधुर्य है तो यवानुरूप उच्चारित मन्त्र अपनी उच्च-अनुपम-स्वादि
आदि स्वरमण्डला से तथा गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, आदि छन्दोमन्त्रांश से तत्सुस्वर
छन्दोमन्त्र प्राकृतिक पूजदेवताओं से सम्पुष्ट होते हुए उच्चेष्टतावाहन में समर्थ हो जाते
हैं। ऐसी देवाकर्षणी छोमना-म्यकरिणा अनुद्देशकरी मन्त्रवाङ् ही पूजदेवताओं के
लिए आकरम की वस्तु बननी हुई ‘तुष्टा’ वाङ् ब्रह्म है। यदि मन्त्राचारम में
स्वर-स्वरा है स्वररोग है उच्चारणरोग है स्मरणरोग है तो इस की छन्दानुसार वि
ष्टि है। ऐसी विच्छिन्ना मन्त्रवाङ् कभी देवाकर्षणकर्म में सफल नहीं हो सकती।
होश में भी सब कुछ साधन-सामग्रियों के विद्यमान रहने पर भी फल भवनी उद्देश-
साधारण अभ्यवस्थित वाङ् सब कुछ व्यर्थ हो जाता है। अतएव इतर सब साधनों
की अपेक्षा उस अपने वाङ्-साधन का सौष्ठव पूजन तथा में अपेक्षित है, जिस के अनु
ग्रह से साधन प्राप्त हो जाते हैं, एवं वाङ् भी समृद्ध बन जाता है। अतएव—“तद्वि
षमूद्यम वा तुष्ट देवेभ्योऽनुब्रवात्” इत्यादि रूप से तुष्टा-वाङ् का ही यह की पूजन
नमूना माना गया है ॥ १८ ॥

* भरिर्था अङ्गिरे देवास्त्रवस्त्रिषास्त्रिदय ।

भरिस्ता वसो, इन्द्र, अग्निनी च परन्तर ।

मन्त्राधीन देवता हैं अतएव मन्त्रवाक् का लीकन सर्वप्रथम अवस्थित है। १) कुम्भी
 ब्राह्मणों के आधीन हैं अतएव ब्राह्मणों का अनुग्रह भी आत्मन्यन्तर से अवस्थित है।
 तत्वात्मिका वैदिकान्त्री वाक् का रहस्य जानने वाले मन्त्राधि ब्राह्मण मूरेव हैं। इन के
 प्रति भी सदा अनुद्देश्यरी-मुद्रावाक् का ही प्रयोग करना चाहिए। विशेषतः उक्त वैदिक
 ब्रह्मधर्म (ब्रह्मधर्म से उपपन्नित तत्त्व तथा दानधर्म में भी) में तो यह सावधानी रक्षनी
 ही चाहिए कि कहीं कहीं भी ब्राह्मण के लिए उद्देश्यरी वाक् का प्रयोग तो नहीं हो-
 गया। ब्राह्मण की अग्रतन्त्रता कस्करस के विषय के लिए प्रयोजित है एवं ब्राह्मण
 की प्रवृत्तता ब्रह्मरूपतन्त्रादि के लिए प्रयोजित है। उन कथनों की मीमांसा कीकिए,
 जिन में ब्रह्मालोचन ब्राह्मणों का अपमान कर दिया करते हैं। उन दान कथनों के
 कुछों का अन्वेषण कीकिए जिन में महान्त दानदाता अपमान पुस्तक दान करते हुए
 अपना सर्वनाश करा रहे हैं। उन अविशेषिकों की उक्त कथन वृत्ति का भी अन्वेषण
 करना न भूलिए जो केवल वन की ही बुद्धिमत्ता का कलक उलझती हुई ब्राह्मणधर्म का
 अपमान कर अपने मणिक को अग्रतन्त्र तत्त्व से अभिमूर्त कर रहे हैं। हमारा भयना
 तो ऐसा ब्राह्मण विस्मय है कि, भारतवर्ष की वर्तमान दैनन्दिनी के अन्वय कारणों में
 से ब्राह्मणधर्म की क्षुब्धता तथा ब्राह्मणधर्म का अपमान भी एक मुख्य कारण है। 'सहि
 सम्बुद्ध यो बुद्ध ब्राह्मणेभ्योऽनुब्रूयात्' इत्यादि श्रुतिशेष भी इसी कारण का स्वीकरण
 कर रहा है। कुम्भी ब्रह्मणः यह मन्त्रमात्र इनी ब्राह्मणानुमति के लिए प्रयुक्त हुआ
 है ॥ १६ ॥

अगला मन्त्रमात्र है— कुम्भी नराधराज'। ब्राह्मण सचिव वेत्त यह इन चारों
 वर्णों में ब्राह्मणवर्ग इतर तीनों वर्णों का मुख्यमन्त्र है ब्रह्मरक्षणीय है। ब्रह्म एकाकी
 सृष्टि करने में अनमर्ष होता हुआ अपने तप से इतर वर्णों को उत्पन्न करता है—(देविए
 शत भा १४ वा १४ अ १२ वा १२३ कं १)। ब्रह्म तर्पितव्य है अतएव वह
 सृष्टिमर्षादि से सम्पूर्ण रहन बाकि प्रभावर्ग से रहित है। अष्टमूर्तक ब्राह्मणधर्म प्रभा
 का (धम्मद्युत से) सदात्मक है सचिव वेत्त-शुद्धवर्ग प्रभावर्ग है। इस सर्वनामात्र
 प्रभावर्ग के लिए ही वेदमात्रा में 'नर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मण नर (मनुष्य)
 नहीं भक्ति देवता (मूरेव) है। सामान्य प्रभावर्ग से इस का पार्थक्य पतकाने के

स्थि, साथ ही इसे ब्रह्मात्मक कलत्रान के लिए पूब (१६) कण्डिका में—‘सुदा ब्रह्मम्’
कहा गया है। अब प्रस्तुत कण्डिका में ब्राह्मणातिरिक्त नमूय प्रभाव के लिए सुदा
बाह्यप्रयोग का विधान हुआ है। प्रत्येक कर्म में सभी के शुभसकल्य अपेक्षित है। वही
कर्म समुदा माना गया है, जिस को देखने की न देखने चाहे, सभी एकस्वर से मातु
बाद दिया करते हैं। सत्यार्थ, लोकप्रवर्द्ध से सभी की हानि कामना अपेक्षित है।
इस के लिए सभी के प्रति सुदाबाह्य का प्रयोग होना चाहिए।

अगला मन्त्रमात्र है— यद्य होतुर्वै विद्य यत्तु परास्तत्, अग्निदत् पुनराग्निवा
ब्रह्मवेदा विचर्यन्ति”। होता यद्यपि यथावर्तित प्राप्तदेवताओं का, सत्सम ब्राह्मणों का,
प्रभाव का सभी का अनुग्रह भी प्राप्त कर लेता है। मन्त्रप्रयोग भी यथाविधि ही
करता है। इस प्रकार अपनी जान में यह अपने हाथकर्म में कोई भ्रष्ट नहीं करता।
यथापि स्वयं में समाख्यान की कमी नहीं है। सभ्येन्द्र निर्दोष कर्मों में भी खोप-खेम
करने वाले निष्ठ ही बात है। होयकता है—लौकिक कर्मों का इस दृष्टिकोण से कुछ न
बिगड़ता हो। परन्तु वैदिक कर्म अवश्य ही इस दृष्टिकोण से बिगड़ना ही सफल है।
दृष्टिपूर्वक यह कुलित भावना यथार्थताकरण में यदि प्रवेश कर जाती है, तो उसी प्रकार
यथार्थक बिगड़ना ही जाता है जैसे आगन्तुक तुलावि से स्वच्छ भी पर मलिन हो जाता है।
होता का यह भी एक कर्तव्य हो जाता है कि, ऐसे हुए समाख्यान की सुदृष्टि के दोष
से दोषयुक्त बने हुए यथार्थक को निवृत्त बनाने के लिए अग्नि से प्रार्थना करे। हम
नहीं जानते कि, जिस के दृष्टिकोण से कर्मस्वरूप बिगड़ हुआ। परन्तु सब कुछ जानने
बाहे अतएव ‘ब्रह्मवेदा’ नाम से प्रसिद्ध अग्नि अवश्य ही उसे जानने है। वे अवश्य
ही हमारी भावना से प्रेरित होकर उस दृष्टिकोण को हटा कर पुनः यथार्थ का लब्धन
करने की समता रखते हैं ॥ १ ॥

‘ब्रह्मवेदा विचर्यन्ति’ यहां तक स्वल्पवचन करने के अनन्तर यह होता अत्युं
तथा आग्नीम मायक श्रुतिओं का रस्य करता है। यत्तुः अत्युं प्राचम्पारार का
उद्गता तथा होता दोनों बाह्यपारार क एव ब्रह्म मनीष्यारार के प्रवर्तक माने गए
हैं। परन्तु यहां स्थितिमात्र को ध्यान बना कर अति में अत्युं को ‘मन’ मान लिया है।

मन उन्मत्तम से हृदय में प्रसिद्धि रहता है। 'पूष्पमकोटिं न्येतितं कमे वीर्यं
 धिक्कल्पमस्तु' इत्यादि मन्त्रद्वारा मन का जो चिह्न कल्प लक्षणा क्या है, उसका
 वह वाङ्मय लक्षारों का ही समान कल्पना काश्चित्। कारण यह है। मन में बुद्धि
 प्रसिद्धि रहती है। बुद्धि का लक्ष्यरूप प्राण ही चिह्न का अनुपादय है। जब जब
 मन है तब तब बुद्धि है। जब तब बुद्धि है, जब तब चिह्न है। जब तब चिह्न है,
 तब तब जीवनवत्ता है। प्रकृत मन के किन्तुमन का लक्ष्यरूपमन वरिष्ठमन का
 ही विभाम मानना पड़ता है। किस प्रकार मन स्वप्नान में स्थित रहता है एतदेव
 अर्जुन का आचार स्वप्नान (पुष्पिणी) से ही सम्यक् रहता है। उभर होता का
 अनुचन कर्म बुद्धोक्तानुगत रहता है। इसी कारण से निवर्त्तन अर्जुन को मन
 तथा होता को वाङ् मान लिया जाता है। बिना मन के वाङ्मयप्रतिष्ठापत्य है।
 उसी मन-प्रतिष्ठाप्राप्ति के लिए वह होता मनात्वानीधं अर्जुन का स्वर्ग करता है। मनी-
 वाङ् का परस्पर प्रत्यिकल्पन ही इस स्वर्ग का सम्यक् कर्म है ॥ ११ ॥

स्वर्गकर्मन्तर वह होता 'न्येतितं कमे वीर्यं—अग्निव पुष्पिणी च, आत्म
 वाङ्मय अहम् राशिम्' इत्यमन का जप करता है। 'न्येतितं कमे' निवर्त्तन के
 अनुसार अहं से सम्यक् रहने बाधा और आत्मत्व, तथा राशि से सम्यक् लक्ष्मी वाला
 पान्द्र लौम्य स्वत्वं, यो ही स्वर्गवर्ति क उपादान है। इन दो के बीच किसी का ही
 वहां राक्षसकर्म हुआ है। अहं का अग्नि से सम्यक् है राशि का पुष्पिणी से सम्यक् है।
 अहं का वाङ् से सम्यक् है राशि का भाव से सम्यक् है। अग्नि पुष्पिणी, मन
 नीनी प्रसिद्ध है। वाङ् प्रकृत में प्राण का वाङ्क है। 'एव उ एव विद्वद्वाङ्'
 (छे भा १।२।१) इन भुक्ति क अनुसार भूतानीय को चारण करने वाला विधर्मा
 प्राण ही प्राण है। अन्त्यानन द्वारा ही हम भी शरीर में प्रतिष्ठा रहती है। अनन्त
 (वाङ्मयप्रकाशन) अहं को भी वाङ् कर दिया जाता है। 'यथाग्निगर्भा पुष्पिणी'
 निवर्त्तनानुसार जप तब पुष्पिणी है वहां तब अग्नि है। पार्थिव प्रथा क क्षिप्र लक्ष्य
 पुष्पिणी एवं तन्मिह अग्नि की प्राप्ति है! पानी का भी वही भ्रमाव नहीं है—कर्मवा-
 र्गमार्ग गन्तु। वाङ्मय प्राण भी—'अन्तरात् पना नाम विद्वन्' क अनुसार स्व-
 प्प्राण है। अहंमय की शरणागति तो यह है ही। इन ६ भों की इनी मन्त्रादि

को अक्षय में रखत हुए भुक्ति में रहने 'उर्ध्व' कहा है। जिस के छिप्ये ६ भों परं
अनुकूल रहते हैं वह कमी किसी भी प्रकार का नष्ट नहीं पा सकता। हाँ तो इसी
देवधकानुग्रहाति की कामना करना है ॥ २२ ॥

स्वल्पमनवरकर्म समाप्ति के अनन्तर हाँवा अपने छिप्ये नियत 'होमपदन' नामक अपने
बेटने के स्थान की ओर मौड़ आता है। वहाँ आकर अपने दर्मासन से एक धुन निकाल
कर फैला हुआ होता— निरस्तः परावसु मन्त्र बोळता है। जिस की उपपत्ति अति
ने वह कृतार्थ है कि परावसु नामक असुर भुक्तों का होता था। तुलनाकामन ध्यात्र
से उसी को इस देवधकानुग्रह से बाहर पैका जाता है। ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से
बहुत सम्भव हो, मौम बकताओं की मति भुक्तों ने भी यह किया हो एवं उनके किसी
यह में 'परावसु' नामक असुर ब्राह्मण होता था। परन्तु तत्त्वदृष्ट्या वह तमामय
प्राण जोकि अपने स्वाभाविक आयुग्माय से देवधक से सम्बन्ध रखन वाले धनु
(सन्ध्या) को यत्नमग्न से पराग करन वाला है 'परावसु' है। इसी के लिए 'सहरसा' धनु
प्रयुक्त हुआ है। जेना कि— सहरसा इत्यनुसन्ध्या वृत्त आस इत्यादि रूप से धनु के
हिंसात्मकता में विलीन से कृतज्ञता का शुक्र है। हिंसात्मकता में देवदेवताओं के
होता है। इसी के लिए अग्नि वृत्त भूमीमह हाँवा विषदेवसम् इत्यादि कहा गया
है। अग्नि से मन्त्र धनु इत्यादि के अनुसार धनु (सन्ध्या) के प्रवक्तृ य अग्नि ही
'अर्वाधनु' नामक देवदेवताओं के होता है। दोनों ही प्राणायाम वृत्त आन्तरिक धनु
में व्याप्त रहते हैं। पञ्चम यत्नमग्न में दोनों का सम्बन्ध अनिवार्य है। दोनों में
परावसु का सम्बन्ध यत्नविपातक है। मन्त्रधक्ति द्वारा तुलनात्मक उत्त वा निकाल
बाहिर कर दिया जाता है एवं—'होमपदार्थको मन्त्रे नीतिमि' पर मन्त्र बोळता
हुआ स्वयं में कवक अर्वाधनु नामक निराग्नि होता के सम्बन्ध को हनन बनाता है।
२३-२४ वृत्तिराओं में इसी उपपत्ति का सटीकरण हुआ है ॥ २३ २४ ॥

इस प्रकार होमपदन स्थान में बैठने के अनन्तर हाँवा बोलता है— पिथरममननूरा
अति मा मोर्गिष्ये मा मा दिनिधमय वा माय ॥ इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ
होना उत्तर की ओर धाँवा ना पड़ता था है। होमपदन स्थान गार्हपत्य का भाग

कनीयः दोनों बाबायुक्तिन अग्निषीं के मध्य में रहता है। दोनों अग्नि विष्वाग्नि हैं, विशेषतः आहवनीय तो समिन्धन से आग उमिद कर कर अग्निधन कर के उचितात्कृत गया है। अथवा ही बिना इनकी अनुमति के तत्परकृत होता कय अग्नि ही उचिता है। अतएव होता सुविद्वान् इन का अनुमति प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

अन्तर आहवनीयग्नि की ओर देकरा हुआ—‘विश्वेदेवाः वासताः’ इत्यादि मन्त्र बोधता है कि कय उचिता करन सूक्तानुसार के उचार्थ है ॥ १६ ॥

इति—विश्वेदेवाग्रकरणम्

इति—होतृग्रवरणमन्त्रार्थ समाप्तः ।



● ओं तन सद् ब्रह्मण नमः ●

अथ शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये

पञ्चमाध्याये द्वितीय, चतुर्थ प्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम्

(१।१।२।)—(१।४।३।)

क्रमप्रमाणम् २१ ब्राह्मणम्

“सुगृह्णान्ति”

४—निमुञ्चपाठ (पारायणपाठ —

(अथ प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये द्वितीय चतुर्थप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम्)

अमिहोता वेत्स्वग्नेहोत्रमिति । अग्निरिवहोता
वेत्स्वित्येवैतदाहग्नेहोत्रमिति तस्यो हि होत्रं वेत्तु
प्रावित्रमिति यज्ञो वै प्रावित्रं वेत्तु यज्ञमित्येवैतदाह
साधु ते यजमान देवतेति साधु ते यजमान देवता
यस्य तेऽग्निहोतेत्येवैतदाह घृतवतीमप्ययो स्मृचमास्य-
स्वेति तदप्ययु प्रसोति स यदेकामिवाह ॥१॥

यजमान ऽएव जुहूमनु । योऽस्मा ऽअरातीयति स
ऽउपभूतमनु स यदद्वे ऽएव ब्रूयाद्यजमानाय दिपन्त

शातृण्यं प्रत्युद्य॥ धीनं कर्मावधेः सन्त्युत्पाद्य तत्प्रवृत्तवत्
 स यद् देवैश्च श्रुत्याश्च ऽष्टांशं प्रवृत्तवत् कर्मात्
 तस्मादेकामिवैवाह ॥१॥

देवयुव विश्ववाराभिति । ऽष्टोत्तमैवेनामेतन्महव
 त्वेव यदाह देवयुव विश्ववाराभितिहामहे देवांश्च
 ईदैन्यान् नमस्याम नमस्यान् यजाम यशियानितीहामहे
 तान् देवान्य ऽईन्या नमस्याम तान् नमस्या यजाम
 यशियानिति मनुष्या वा ऽईन्याः पितरो नमस्या
 देवा यशिया ॥३॥

या ज्ञे प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्त । प्रयत्नस्य वै ता
 ऽष्टमैवेतथा ऽष्टमा प्रजाऽष्टमयुतास्ता सप्त ऽष्टम
 जति मनुष्यान्नु पञ्चो देवान्नु व्याधेस्तेष्वप्यो
 व्वनस्यतयो यावैर्विजैवमुत्तमैर्वै यज्ञ ऽष्टमभक्तवै ॥४॥

ता वा ऽष्टमा । नव व्याधितयो भवन्ति नवैमे
 पुरुषे प्राज्ञा ऽष्टान्नेनास्मिमेतद्वृत्ताति तस्माच्च न्या
 हतयो भवन्ति ॥५॥

यज्ञो ह देवेभ्योऽप्यभक्तम । तं देवां ऽष्टमैवेन्द्र
 यन्ता नः शृणुप न आवर्त्तस्वोति सोऽस्तु तद्येत्येव

देवानुपाश्वर्त्तते नोपाश्वर्त्तेन देवा ऽश्रयजन्त तेनेष्टैतद-
भवन्त्यादिर्देवा ॥६॥

स यदाश्रावयति । यश्चैतदनुमन्त्रयत ऽन्ना नः
शृणूय न ऽश्वत्स्वेत्यथ यत्प्रत्याश्रावयति यश्च ऽश्वैत-
दुपावर्त्ततेऽस्तु तथेति तनोपाश्वर्त्तेन रेतसा भूतेनऽर्त्विज
सम्प्रदायं चरन्ति यजमानेन परोक्ष यथा पूर्णपात्रेण
सम्प्रदायं चरेयुरेवमनेनऽर्त्विज सम्प्रदायं चरन्ति
तद्वाचैवेतत्सम्प्रदायं चरन्ति व्वाग्धि यज्ञो व्वागृहि
रेतस्तदेतन्नेवेतत्सम्प्रदायं चरन्ति ॥७॥

सोऽनुब्रूहीत्येवोक्तत्वाच्चर्यु । नापव्याहरेन्नो ऽएव
होतापव्याहरेदाश्रावयत्यर्धुस्तदर्माधं यश्च ऽउपा-
वर्त्तते ॥८॥

सोऽग्नीन्नापव्याहरेत् । आ प्रत्याश्रावणात् प्रत्या
श्रावयत्यमीत् तत्पुनरर्धु यश्च ऽउपावर्त्तते ॥९॥

सोऽध्वर्युर्वापव्याहरेत् । आ यजेति वृक्तोर्यजेत्ये-
वाध्वर्युर्होत्रे यश्च सम्प्रयच्छति ॥१०॥

स होता नापव्याहरेत् । आ वषट्कारात् त वषट्
कारेणाग्नौवेव योनौ गतोभूतः सित्यग्निव्ये योनि

यस्य स तस्य प्रजापतिः । अथ यज्ञोपासनादौ । अथ यज्ञोपासनादौ ।
 चरे ॥११॥

१३ ॥ १॥ १॥ १॥

स वे अहं यज्ञोपासनादौ । अथ यज्ञोपासनादौ । अथ यज्ञोपासनादौ ।
 दुपासनादौ । अथ यज्ञोपासनादौ । अथ यज्ञोपासनादौ । ॥११॥

त उद्रातारो नापन्याहरेयुः । अथ यज्ञोपासनादौ । अथ यज्ञोपासनादौ ।
 बोद्रातारो होत्रे यज्ञोपासनादौ । अथ यज्ञोपासनादौ । ॥११॥

स होत्रा नापन्याहरेयुः । अथ यज्ञोपासनादौ । अथ यज्ञोपासनादौ ।
 कारेणाग्नानेव योनौ गेहोमस्य । अथ यज्ञोपासनादौ । अथ यज्ञोपासनादौ ।
 स तत प्रजायते ॥१२॥

स यज्ञोपासनादौ । अथ यज्ञोपासनादौ । अथ यज्ञोपासनादौ ।
 पूर्णपात्रं परासिञ्चेवेव । अथ यज्ञोपासनादौ । अथ यज्ञोपासनादौ ।
 यत्र देवमस्ति सविधाना यज्ञेन कुर्यान्ति सर्वमेव तत्र
 कल्पते न मुह्यति तस्मादेवमेव यज्ञोपासनादौ । ॥१२॥

ता वा ऽपता । अथ यज्ञोपासनादौ । अथ यज्ञोपासनादौ ।
 श्रोपण्य ये यजामहे ऋषिर्वाहति णाहको यज्ञोपासनादौ ।
 पशु एव सर्वतत्सर्वमेव यज्ञोपासनादौ । अथ यज्ञोपासनादौ ।
 सम्पत् ॥१३॥

तासां सप्तदशाक्षराणि । सप्तदशो वै प्रजापति

प्रजापतिर्येष एकेका यस्य मन्त्रेण सम्पत् ॥१७॥

ओ आवयेति वै देवा । पुरोवात् ससृजिरेऽस्तु

श्रोपहित्यमाणि समप्लावयन्त्यजेति विवृणुत ये यजामह ऽति स्तनयितु वपट्कारेणैव प्रार्थयन् ॥१८॥

स यदि ऋष्टिकाम स्यात् । यदीष्टा वा यजेत दर्शपूर्णमासयोर्वैव ब्रह्माद् ऋष्टिकामो वा ऽश्रस्मीति तत्रो ऽवर्ण्य ब्रूयात् पुरोवात्तच्च विवृणुतच्च मनसा ध्यायत्यग्नीध्रं स्तनयितुश्च वपट्च मनसा ध्यायेति होतारं सर्वाण्येतानि मनसा ध्यायेति ब्रह्माणं वर्पति हेव तत्र यत्रैवमृत्विज सविदाना यत्रेन चरन्ति १६

ओ आवयेति वै देवा । विराजमभ्याजुहुषुरस्तु श्रोपहिति वत्समुणावासृजन्यजेत्पदनयन्ये यजामह ऽत्प्रासीदन् वपट्कारेणैव विराजमहुहतेय वै विवृणुते वा एष दोह ऽव ह वा ऽस्मा ऽह विराट् सर्वान् कामान् बुहे ऽवमेतं विराजो दोह व्येद ॥१९॥

इति चतुर्थप्रपाठके तृतीय ब्राह्मणम् [५ २] ॥

इति पञ्चमाध्याये द्वितीयं चतुर्थप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम् (१५१२) - (१५१३)

इति-निर्वाणपाठ (क)

यज्ञमेवैतदनुमन्त्रयते—“आ-न-श्रुम्, उग्रान् आभर्षस्व” इति । “अथ यत्
 प्रत्याभाविष्यति—यज्ञ उपावर्षते—“अस्तु यथा” इति । ततोपावर्षेण
 रेतसा भूतेन श्रुत्वा सम्प्रदाय चरन्ति, यजमानेन परीक्षम् । यथा पूर्ण
 पात्रेण सम्प्रदाय चरेयु—यजमानेन श्रुत्वा सम्प्रदाय चरन्ति । उपावर्षतत्
 सम्प्रदाय चरन्ति । वाग् हि यज्ञ, वाग् उ रेत । तदेतेनैवैतत् सम्प्रदाय
 चरन्ति ॥ (७) ॥ स ‘अनुमूहि’ इत्येवोक्तत्वा अथर्षुर्नापम्याहरत्, ना
 एव होतापम्याहरेत् । आधावयति, अथर्षु—उपवर्षतत् यज्ञ उपावर्षते ॥
 (८) ॥ सोऽन्वयुर्नापम्याहरेत्—आ प्रत्याभाविष्यति । प्रत्याभाविष्यन्ति—
 तत् पुनरन्वयु यज्ञ उपावर्षते ॥ (९) ॥ सोऽन्वयुर्नापम्याहरेत्—आ ‘यज’
 इति वक्तो । ‘यज’ इत्येवाप्युहोत्र यज्ञ ‘सम्प्रपञ्छति’ ॥ (१०) ॥ स
 होता नापम्याहरेत्—आ वपट्कारात् । स वपट्कारेणाग्नावेव यानी रतो
 भूत सिञ्चति । अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य—म सितं प्रजापते—इति जुहविर्यज्ञ ।
 अथ सौम्यऽश्वरे ॥ (११) ॥ स वै ब्रह्म मुहूर्तिवो अथर्षुर्नापम्याहरत्—आ
 उपस्करमात् । ‘उपावर्षन्वेम्’ इत्येवाप्युहोत्रात्तुम्यो यज्ञ ‘सम्प्रपञ्छति’ ॥
 (१२) ॥ स उद्गातारो नापम्याहरिषु—आ उक्तमाया । ‘एषोचमा’ इत्ये
 वाद्गातारो होत्र यज्ञ सम्प्रपञ्छन्ति ॥ (१३) ॥ स होता नापम्याह
 रेत्—आ वपट्कारात् । स वपट्कारणाग्नावेव यानी रेतोभूत सिञ्चति ।
 अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य—स तत प्रजापत ॥ (१४) ॥ स यद् इ सोऽपम्या
 हरेत्—य यज्ञ उपावर्षत, यथा पूर्णपात्र परीक्षिष्यत्—एव इ स यजमान
 परीक्षिष्यत्—एव इ स यजमान परीक्षिष्येत् । स यत्र द्वैवमृत्विज सपि
 दाना यज्ञन चरन्ति—सर्वमेष सत्र कल्पत, न मृषति । तस्मादेवमेव यज्ञो
 मर्षम्य ॥ (१५) ॥

ग—मूल्यानुवादः—

पाँचव अध्याय में दूसरा, चौथे प्रपाठक में तीसरा आखण

“सुगन्धर्व”

१—सुगन्धर्वनिगद

(पूर्व क प्रवृत्तान्त में अथर्व द्वारा होम वाले प्रथमान दिव्य अग्नि, एवं मातृप होता क धर्म कर्म की इतिवृत्तता स्तुति गई है । अब प्रकृत सुगन्धर्व में स गन्धर्व कर्म का स्पष्टीकरण किया जाता है । कहा गया है कि, अथर्व द्वारा होतृत्वेन हृत ‘होता’ नामक श्रुतिक अपने होत्र कर्म की निश्चित परिणामाति क लिए स्वस्थान-होतृपदन में प्रतिष्ठित हो कर—‘यत्तत्त्वा देव सविताह वते’ इत्यादि मन्त्रवच लक्षण स्वस्थानवच कर्म करता है । इस कर्म क अनन्तर ही सुगन्धर्व कर्म विहित है जिसकी इतिवृत्तता क्रमशः आरम्भ करती हुई अति बढ़ती है)—

(स्वस्थानवच क अनन्तर होमा नामक श्रुतिक)—‘ अग्निहोता वेत्स्वर्गहोत्रम्’ (प्रागाभिष्टव्य दिव्य होता हत अनुष्ठेय अपने होत्र कर्म को जान) यह मन्त्र बोधता है । इस (अनुष्ठेय कर्म) को दिव्याग्निरूप यह होता जान मन्त्रमाग से यही कहा है । अग्निहोत्रम् इस मन्त्रमाग का यही लक्षण है कि यह होत्र कर्म निश्चयेन अग्नि का ही है । (अनन्तर)—‘ येषु प्रावित्रम्’ (यह दिव्याग्निरूप होता यह को जाने) यह मन्त्रमाग बोधता है । प्रावित्र निश्चयन—(प्रवेष्टव्य भवति इस व्युत्पत्ति से) यह यह है । (इस मन्त्र माग से) होता रक्षण वत का जान यही कहा है । (अनन्तर) तापु ते प्रथमान । देवता’ (हे प्रथमान । जिस गुह्यारा होता दिव्य अग्नि है यह गुह्यारा देवता गुह्यारे सिद्ध-कर्मवृत्ति क लिए तापु-योग्य है) यह मन्त्रोच्चारण करता है । मन्त्र से यही कहा गया है । (अनन्तर)—‘ बुधवतीमण्यो ! सुबमास्पत्य’ (हे अथर्व ! भार पुनर्पूर्ण सच का प्रदत्त कीजिए) यह मन्त्रोच्चारण करता है । (इस मन्त्र क द्वारा होता) अथर्व की (स गन्धर्व कर्म क लिए) प्रगति करता है । सो

जो कि होता (अर्थात् जो ज्ञ-उपभूत, इन दोनों में से) केवल ज्ञान-मार्ग-प्रतिष्ठ
 करता है, (उस की उपस्थिति कह सकते हैं) ॥ १ ॥ यन्मात्र ही ज्ञ को ज्ञान बनाता
 है (एव) जो इह (यन्मात्र के बिना) 'अनुभूति-प्रतिष्ठा' है, जो (यन्मात्र का ज्ञान)
 उपभूत को ज्ञान बनाता है (अर्थात् ज्ञान-मार्ग-प्रतिष्ठान की तथा उपभूत इसके ज्ञान
 की प्रतिकृति है)। (ऐसी स्थिति में) यदि वह होता (अर्थात् जो) दो (ज्ञ-
 उपभूत दोनों) ज्ञानों के बिना प्रेरित करता, जो यन्मात्र के बिना हो कर जाने वाले ज्ञान
 को यन्मात्र की प्रतिस्पर्धा में लड़ा कर देता (अर्थात् दोही ज्ञान को यन्मात्र करने
 वाला किन्तु होता अतः एक ही ज्ञान के बिना प्रेरित करता उचित है)। (अब इसी
 की एक दूसरी उपस्थिति और कह सकते हैं) — अथा (मोक्ष) ही ज्ञान को ज्ञान बनाता
 है 'एव' मात्र (मोक्ष) उपभूत को ज्ञान बनाता है (अर्थात् ज्ञान निदानेन अथा की,
 तथा उपभूत मात्र की प्रतिकृति है)। (ऐसी स्थिति में) यदि वह होता दो ज्ञानों
 के बिना प्रेरित करेगा तो अथा के बिना मात्र की प्रतिस्पर्धा ज्ञान-प्रतिष्ठा (अर्थात् मोक्ष
 मोक्ष की प्रकृति में मोक्ष को लक्ष्य बनावेगा। ऐसा न हो, इस लिए एक ही रूप से
 (एक ज्ञान के बिना) मूल बोधता है ॥ २ ॥ (अन्तर) 'वेदमय विद्याराम'
 (वेदमयों के लक्ष्योप की प्रकृति करने वाली तथा लक्ष्य वेदमयों के 'कर्मों' ऐसी
 ज्ञान के बिना में अर्थात् जो प्रेरित करता है) वह अन्वेषण करता है। वह होता इस
 ज्ञान की प्रकृति ही करता है — अथा ही वेता है। (अर्थात् — 'वेदमय विद्याराम' वह
 अथा है। (अन्तर) 'वेदमय वेदों का ही ज्ञान, यन्मात्र यन्मात्र, लक्ष्य
 विद्याराम' (सृष्टि करने मोक्ष मनुष्यों की में सृष्टि करता है, यन्मात्र करने मोक्ष पितरों
 को में नमस्कार करता है एव यन्मात्र में मात्र लक्ष्य — वाक्-वाक् सृष्टि करने वाले
 मतएव सृष्टि करने वाले वेदमयों का में यन्मात्र करता है) वह अन्वेषण करता
 है। मनुष्य निदानेन सृष्टि करने मोक्ष है पितर नमस्कार हैं, एव वेदमय विद्याराम हैं ॥ ३ ॥
 जो प्रवाह यन्मात्र में मात्र स्थित है (किन्तु यन्मात्र में मोक्ष नहीं है), वे प्रवाह निदानेन
 पराजित हुए हैं। इसी प्रकार (ठीक इसके विपरीत) जो प्रवाह अन्वेषण है, यन्मात्र
 को, यन्मात्र में समाविष्ट करता है (अर्थात् प्राकृतिक यन्मात्र में किन्तु प्रवाहों में
 मात्र लक्ष्य के पराजित हुए, किन्तु मात्र मात्र मात्र, वे विद्याराम हुए)।

प्रकृत यहमें उन विभिन्नी प्रकाशों का ही समावेश किया जाता है)। मनुष्यों को अभिलषित कर पशुप्रजा, देवताओं को अभिलषित कर पत्नी, औपचर्याँ कन्यसुतियाँ, तथा (विन का सुदृक्कर्म में उपयोग है वह) यह सब कुछ यह में समाविष्ट है ॥ (४) ॥ इस प्रकार (पूर्व कथनानुसार सुगादापन कर्म में सम्मिलित करने वाले 'सुगादापननिगद') मन्त्र की ६ व्याहृतियाँ (वाक्य) हो जाती हैं *। पुरुष (आत्मात्मिक) में नौ (सात धीर्यव्य, दो भवाद्यध्यास सम्पूष ६) प्राय हैं। (नवव्याहृत्यात्मक इस सुगादापनमन्त्र से) वह होता अपने इस वैष आधिभौतिक यह में इन्हीं ६ प्रायों को स्थापित करता है। इसी (नवप्राचापानसम्पत्ति के लिए) सुगादापनमन्त्र की ६ व्याहृतियाँ होती हैं ॥(५)॥

सुगादापननिगदसमाप्त

—१—

२—आभाषण—प्रत्याभाषणनिगद

('अभिहीता वेत्स्येहीवम ' इत्यादि नवव्याहृत्यात्मक हेतुकर्तृक 'सुगादापन' कर्म के अनन्तर—अन्त्य होता उद्गाता ब्रह्मा इन चारों श्रुतिओं के सहयोग से आभाषण—प्रत्याभाषण—कर्मोत्तिर्कल्पना सम्पन्न होती है। एक दूसरे श्रुतिक का एक दूसरे श्रुतिक के प्रति ध्वस्तक्य की महिमा का वर्णन—वर्णन ही आभाषण—प्रत्याभाषण कर्म करता है। वह कर्म किया क्यों जाता है। इस प्रश्न के उत्तर में प्रथम एक वैज्ञानिक भाष्यान उद्धृत हो रहा है जिसका तात्त्विक विस्तारण विशेषता—प्रकरण में

* १—“अभिहीता” ।

६—“देवदुर्ग निधनायम्” ।

२—“वत्स्येहीवम” ।

७—“ईदामहे दवा १॥ ईदाम्वात्” ।

३—“वेत्तु प्रवित्रम्” ।

८—“यमस्याम नयस्याम्” ।

४—“तापु त वज्रम् । वेत्ता” ।

९—“यश्चम यज्ञियात्” ।

५—“पुनरहीमवयी । सुकमाप्यस्य” ।

होगा । मौलिक उपपत्ति से सम्बन्ध रखने वाले उन्हीं वैज्ञानिक भावनाओं का समग्र प्रकाशनी हुई भूति करती है)—(किसी युग में) वह देवताओं को औपचारिक रूप में मान्यता (बोझान्तर में प्रकाशित उक्त) वह को देवताओं में जो अनुन्नत किन्तु के साथ जुड़कर आनेवाला किन्तु कि (देवदेव ।) हम हमारी कुनो (आत्मा), हमारी ओर झूट आओ । (देवदेवताओं की अनुन्नत किन्तु कुछ वाली से प्रभावित होकर औपचारिक में गया हुआ) वह वह 'मेरा ही हो' (वह स्वीकृति बनाने) करता हुआ देवों की ओर झूट जाता । झूट झूटे हुए उक्त वह से देवों में अपना भावकर्म सम्पन्न किया (व्यक्तिगतता पूर्ण की) । इस वह से बन कर के (देवदेवता) वे बन गए जो कि (आत्म उक्त का) वह देवत्वम् (त्रैलोक्यात्मक सम्पत्ति अथवा में प्रतिष्ठित) है । (अर्थात् देवदेवताओं में अनुन्नत किन्तु द्वारा बापत झूटे हुए प्रकर्म से ही अपना देवत्व सुरक्षित रक्ता) वह ही देवों का देवत्व बना ॥ (६) ॥ तो जो कि अन्ध (नामक श्रुति 'आत्मत्व' इत्यादि रूप से) आभावन-कर्म करता है (अपने इस आभावनकर्म से प्राकृतिक देवदेवताओं की भाँति) वह को ही अनुन्नत किन्तु से जुड़ता है कि, आप हमारी कुनो हमारी ओर झूट आओ । (तात्पर्य अन्धनु कृत आभावन कर्म बोझान्तर में वह भावत्वम् सम्पादक वह को स्व वैचर्य में बापत कुनो के लिए ही विहित है) । (अन्धनु कृत आभावन के अन्तर आशीर्वाद नामक श्रुति—अन्ध औषध' इत्याकारक को प्रत्याभावन कर्म करता है—उक्त प्रत्याभावन कर्म से वह कथकित वह 'मेरा ही हो' इस स्वीकृति के साथ झूट आता है । (तात्पर्य आशीर्वादकृत प्रत्याभावन कर्म वह के स्वीकृति पूर्वक बापत झूट आने के स्थान में विहित है) । (इस प्रकार अन्धनु कृत आभावन आशीर्वादकृत प्रत्याभावन से समीप आए हुए वह के वह से—वर्तमान को (इस वर्तमान पदमात्र कर्म में) परोक्ष रखते हुए श्रुतिक लोग लक्षणका अनुगमन करते हैं—(परस्पर एक दूसरे के प्रति योग्य इतिकर्षणता का विभाजन करते हुए व्यक्तिकर्षणता पूर्ण करते हैं) । (तात्पर्य—आभावन प्रत्याभावन रूप वाङ्मय निगद कर्म से वह का स्वरूप सम्पन्न होता है । इस में चारों श्रुतियों का क्रमशः व्यवहार रहता है । केवल वर्तमान इस निगद कर्म में भाग नहीं लेता) कि प्रकाश (जोकि में किसी दूसरे पात्र को पूर्ण करने के लिए समवेत अनेक) व्यक्ति अपने आगे आगे की व्यक्तियों को सम्पूर्ण कर

पात्र सोपाने हुए पहातपात्र पूरा करते हैं तबवे परस्पर प्रज्ञान कम से हल यहद्वारा वे श्रुतिक सम्प्रदान का अनुगमन करते हैं । (वहां पारस्परिक सम्प्रदान किसी मौक्तिक इष्ट का नहीं होता अथि कबल बाह् प्रयोग कथन निगदमन्-प्रयोग से ही सम्प्रदायानुगमन होता है । इसी अभिप्राय को व्यक्त करती हुई भुति करती है कि) इस बाह् (बाह्यम निगदमन्प्रयोग) द्वारा ही सम्प्रदान पूरा श्रुतिक लोग अनुदान करते हैं । बाह् ही यह है और बाह् ही निश्चयेन यहका रेत है । अतः बाह्द्वारा ही सम्प्रदानपूर्वक यथा मुदान करते हैं ॥ (७) ॥ (आभाषण प्रत्याभाषण कर्म के पारस्परिक सम्प्रदान से सभी श्रुतिकों का व्यवस्थितरूप से घान्त-अनुहिम वृत्ति में रहना आवश्यक है । इस नियदकर्म में उन्हें उठना ही कुछ बोलना है बितने का निगदकर्म से सम्बन्ध है । प्रलुगानुपयोगिनी लौकिकवाची तर्कानिनिष्ठ है । इसी विरोधादेय का स्वीकरण करती हुई भुति करती है कि) वह अण्यु (अपने मुक्त से होता नामक श्रुतिक के प्रति अनुवाक्या के लिए प्रेय करता हुआ) केवल 'अनुम हि' [अनुवचन करो] इतना मर कर अमासद्विक ओर कुछ न बोले । नही होता ही ओर कुछ अमासद्विक उच्चारण करे । [क्योंकि अण्यु कुछ प्रेय स अनुवचनद्वारा होता में भी बाह्कर्म यह का समावेष्ट हो जाता है] । [अनन्तर] अण्यु [आन्मीम को लक्ष्य बनाकर 'भो माधव' इत्यादिक्रम से] आभाषण करता है । इस आभाषण से यह आत्मीम के समीप लौट आता है [आत्मीम यहलन्तन से मुक्त हो जाता है] ॥ [८] ॥ [चूंकि अण्यु कुछ आभाषण से आत्मीम में यहलन्तन का समावेष्ट होगया है अतएव] जबतक आत्मीम [अलु भीगट' इत्यादिक्रम से] प्रत्याभाषण न करते, तबतक वह निष्प्रबोदन कुछ न बोले । [अण्यु कुछ आभाषण के अनन्तर ही] अण्य निष्प्रबोदन बाह् का समय कर ता हुआ] आत्मीम [अलु भीगट' रूप से अण्यु के प्रति] प्रत्याभाषण करता है । [आत्मीमहल] इस प्रत्याभाषण से यहलन्तन पुन अण्यु की ओर लौट आती है । [क्योंकि प्रत्याभाषण कर्म अण्यु हल आभाषण कर्म का ही समाधान है] ॥ [९] ॥ [आत्मीमहल प्रत्याभाषण से यहलन्तन से मुक्त होता हुआ] वह अण्यु जबतक [होता व प्रति] यह [वचन करो] इस निगद का प्रेय न करत तबतक अण्य कुछ निष्प्रबोदन न बोले । अतः यह इस प्रेय से ही अण्यु होता के लिए यहलन्तन समर्पित कर

रेता है [चक्रवर्त्तुस्य यदा भास्वर होता मी चक्रवर्त्तु से कुछ होजाता है] ॥ [१७]
 [अन्धनु कृत यदा निम्नहारा चक्रवर्त्तु से कुछ होता हुआ] यह भीजाग्निक
 बीजत् निम्न का उच्चारण न करते, तत्काल अन्य कुछ चक्रवर्त्तु न बोले । [बीजत्
 कृत से बीजत् सुने के साथ ही] चक्रवर्त्तुस्य भास्वरवर्त्तुस्य बीजत् से
 [निम्न ब्रह्म] हविर्ब्रह्मस्य रेत की आधुति से रेता है । अग्नि निम्नसे यह ही बीज
 है । इसी में [रेतामूला हविः प्रदातुं] यह [देवतामन्त्रस्य तत्त्वज्ञानं यदाहविः
 उत्पन्न होता है । हविर्ब्रह्म के समान में वाक्चक्र की [चक्रवर्त्तुस्य] की (उक्त
 व्यवस्था है । अन्ध [प्रत्योपास] सोमपात्र में [होने वाली वाक्चक्रवर्त्तुस्य के समान
 में मी कह देते हैं] ॥ (११) ॥ (सोमपात्र में) यह अन्ध (सोमरत् से ब्रह्म
 वाक्चक्र) यह (सोमपात्र) का प्रह्व कर चक्रवर्त्तु उद्गाताओं से स्तोत्रपाठकर उपानयन
 कर्म न करते तत्काल अन्धनु कुछ न बोले । (उद्गाता-उद्गातान्तर उद्गाताओं के
 प्रति अन्धनु उपानयनस्य (समीप कौट आह्वय) इस वाक्चक्रवर्त्तुस्य से चक्रवर्त्तु
 उद्गाताओं के लिए उर्मिष्ठ कर देता है । (चक्रवर्त्तु उद्गाता लोग चक्रवर्त्तु से
 कुछ हो जाते हैं) ॥ (१२) ॥ (अन्धनु कृत 'उपाकर्षण' निम्न से चक्रवर्त्तु
 से कुछ हो जाने वाले) से उद्गाता लोग चक्रवर्त्तु (अपनी स्तोत्रिवाओं में से) अन्ध
 स्तोत्रिवा का उद्गात न करते, तत्काल अन्धनु कुछ न बोले । (स्तोत्रिवा समाप्तकर
 उद्गाता लोग अन्ध में होता को अन्य बनाकर—'यथोक्ता—यह अन्ध स्तोत्रिवा है—
 इस निम्न का उच्चारण करते हैं । भूति ज्ञाती है कि) उद्गाता लोग 'यथोक्ता'
 इस उच्चारण से ही होता के लिए चक्रवर्त्तु उर्मिष्ठ कर देते हैं—(चक्रवर्त्तु होता मी
 चक्रवर्त्तु से कुछ हो जाता है) ॥ (१३) ॥ (उद्गातुक्तु च स्तोत्रिवोद्गात कर्म
 की अन्ध स्तोत्रिवा से समान रखने वाले एषोक्ता' इस निम्न से चक्रवर्त्तु से कुछ
 होजाने वाला) यह होता चक्रवर्त्तु यह बीजत् रूप से चक्रवर्त्तु न करते तत्काल अन्धनु
 कुछ न बोले । (होवर्त्तु च चक्रवर्त्तुस्य चक्रवर्त्तु के साथ ही) अन्धनु चक्रवर्त्तुस्य भास्वर-
 वनीपात्रिवाग्नि वाग्नि में उक्त (निम्न ग्रह नामक सोमरूप) रेत की आधुति से रेता है ।
 अग्नि निम्नसे यह ही बीज है । इसी में (रेतामूला सोमाधुति से) यह (स्वादिवाग्नि
 चक्र चक्रवर्त्तु से चक्रवर्त्तु की मानुषात्मा ऐहिक आधुमौगान्तर विवाचिनेरत्तु

में प्रविष्टि होगी) उत्पन्न होता है । (ओमवाक्य के सम्बन्ध में वाक्यवचनकर्म की परी
 प्रावृत्ति की मांग है) ॥ १४ ॥ (आभावन प्रत्याभावननिगम कर्म में यदि शुक्ति
 भोग अप्रत्युक्तवाक्य का उपचार करे, तो क्या अनिष्ट हो । इसी प्रश्न का समाधान करती
 हुई भुक्ति कहती है कि यदि वह शुक्ति अप्रत्युक्तवाक्य का उपचार करेगा तो (वह परमरसा)
 जिस यक्षसम्पत् को प्राप्त करता है (अप्रत्युक्त वागुपचारण से उक्त यक्षसम्पत् का विच्छे-
 दक कला हुआ वह हाता) उसी प्रकार यक्षमान को यक्षसम्पत् से पुष्प कर देगा
 जैसे कि (स्वल्पराशियों से वृक्षराश को परिपूर्ण करने वाले व्यक्ति भगवन्मानी से) उक्त
 पूर्णराश को रिक्त कर देते हैं (रक्त देते हैं) । उत्तराय-शौचिक कर्म जैसे अल्पवृत्ति से
 अपूर्ण रह जाता है एवमेव अप्रत्युक्त वागुपचारण से यक्षकर्म स्वसन्तानद्वारा लोका
 हुआ अपूर्ण रह जायगा एव वही अप्रत्युक्त वागुपचारण से महान् अनिष्ट होगा) । (ठीक
 इनके विपरीत) जिस यक्षमान के यक्ष के (आभावन प्रत्याभावननिगमकर्म में) शुक्ति
 भाग (अप्रत्युक्त वाक्य का सव्य करते हुए) परस्पर एक दूसरे के प्रति यक्षसम्पत् समर्पित
 करते हुए निगम कर्म का अनुगमन करते हैं उक्त कर्म में सभी युक्त (यक्षसम्पत्तियों)
 संगम हो जाती है इस सावधानी से कोई भी शुक्ति करने कल्प से म्युक्त नहीं होता ।
 इस निगम (शुक्ति को चाहिए कि) वे इसी प्रकार (विहित नियमानुसार) ही (यक्षोत्ति-
 कल्पता पूरी करते हुए) यक्ष को पुष्ट (परिपूर्ण) करें ॥ (१५) ॥

(प्रत्युक्त निगम कर्म में पांच व्याहृतिवाँ होती है । इस पांच लक्ष्य की मौलिक
 उपरति कल्पानी हुई भुक्ति कहती है)—(इस आभावन प्रत्याभावन कर्म में) निश्चयेन
 य [निम्न लिखित] पांच व्याहृतिवाँ होती हैं—‘ओ भावन’—‘अस्तु भौगद’—‘यक्ष’
 —‘ये यक्षामरे’—‘भौगद’ । (प्राकृतिक सम्बन्ध पर सम्बन्धप्रकारों के विचारमान
 प्राकृतिक वाचिक यक्ष से दानों) यक्ष पञ्चावयव है [यक्ष से उत्पन्न] यक्ष [मी]
 पञ्चावयव है; [प्राकृतिक] सम्बन्ध [यक्ष] की [मी] पांच [ही] शृङ्खले हैं ।
 वही [पञ्चावयवपदा ही] इस यक्ष की एक तीक्ष्ण [प्राकृतिक] सम्बन्ध है । [इसी
 प्राकृतिक सम्बन्ध के बिना यहाँ पांच व्याहृतिवाँ विहित हैं] ॥ (१६) ॥ [उन
 पांच व्याहृतिवों के अन्तर १७ होते हैं । इन सप्तदश लक्ष्यों की उपरति कल्पानी हुई भुक्ति
 कहती है — उन पांच व्याहृतिवों के (ओ भा-य-य अ-स्तु-भौ-गद-य-क्ष-ये-य-जा-म-द

भी-कह-इस कम से) कष्ट भग्न है । प्रजापति मिथ्येन कष्ट (कष्टा है)
 उत्तरदायकत्व) है । प्रजापति (ही) कष्ट है । कष्ट (भी) इस कष्ट की एक (प्राक-
 र्तिक) सीमा है, कष्ट (भी इस कष्ट की) समस्त है । (इस प्रकार पञ्चमहाभूतों के
 उत्तरदायकत्वों से उत्तरदायकत्वों प्रजापतिवत्त्वत् भी प्राप्त हो जाती है) ॥ (१७) ॥
 (उक्त पांच प्राकृतिक व्याप्तिवत्त्वों से प्राकृतिक साम्प्रतिक प्राप्ति देवताओं के द्वारा हृदि-
 कर्म भी सम्पादित है । यद्यतः इस वेद मातृपुत्र कष्ट में भी यदि सम्मान हृदिकर्मवत्त्व
 रक्ता है तो उक्त को एक क्लेश पदार्थ के अनुसमन से कष्ट कामना भी पूरी हो सकती
 है । उनी प्राकृतिक क्लेश पदार्थों का विनिर्मुक्त करती हुई बुद्धि करती है)—(प्राक-
 र्तिक) देवदेवताओंने भीवात्त्व' इस व्याप्ति से (हृदिप्रवर्तक) पुरोषात् (पुरो-
 हता-मातृपुत्र) उत्तरदायी । अतः भीकष्ट' इस व्याप्ति से (मातृपुत्र) कष्टों से ज्ञात
 कर दिया । 'यत्' इस व्याप्ति से विनिर्मुक्त उत्तरदायी । 'ये क्लेशादे' इस
 व्याप्ति से कष्ट उत्तरदायी । एवं-भीकष्ट' इस व्याप्ति से ज्ञाती करता दिया । (इस
 प्रकार पांच व्याप्तिवत्त्वों के समन्वय से हृदिकर्म पूरा कर दिया एवं करते रहने हैं) ॥ (१८) ॥
 वह सम्मान यदि हृदि की कामना रक्ता हो, कही सम्मान पञ्चमहाभूतवत्त्व
 लीरी आदि हृदि से सम्मान करने वाला हो तो उसे (हृदिप्रवर्तकवत्त्व इस) सर्वपूर्ण-
 मातृपुत्र में ही (श्रुतिवत्त्वों से) कष्ट कष्ट देना चाहिए कि, मैं बुद्धि की रक्ता रक्ता है ।
 इस हृदि कर्म में उक्त सम्मान को सम्मान में ही कष्ट कष्टा चाहिए कि, इस क्लेश
 मान्त्रिक कर्म से पुरोषात् और विष्णु का ज्ञान करो । आशीर्वा नामक श्रुतिवत्त्व से
 वह कहना चाहिए कि, इस मन से कष्टों का ज्ञान करो । होना नामक श्रुतिवत्त्व से
 वह कहना चाहिए कि, इस लज्जित, और पानी का ज्ञान करो । ब्रह्मा नामक
 (वैदिक) श्रुतिवत्त्व से वह कहना चाहिए कि, मात्र पुरोषात् आदि सब का मन में ज्ञान
 कीजिए । अकार्य ही (सम्मान के) उक्त कष्ट में पानी करला है किन्तु कष्ट में (उक्त)
 श्रुतिवत्त्व माने (उक्त कर्मवत्त्वों के समन्वय से—पञ्चमहाभूतवत्त्व—कष्ट म पञ्चमन्त्र होकर अनुष्ठान
 करने हैं ॥ (१९) ॥ (भग्न प्राकृतिक पार्ष्णि कर्म में प्राग्देवता पञ्चमहाभूतवत्त्व इसी
 आभारत, प्रत्याभारत कर्म से भगनी गन्तु यक्षशामनार्थ चिरात् गो रूपा रानी बुद्धि
 म दोरा करने हैं । हर्षी एक और प्राग्देवता कर्म का सिद्धिमान करती हुई बलि करती है

कि) 'ओभावक' इस व्याहृति से वेदवेदवागमोर्ने विराट् (गौरुपरापुत्रिणी) का आह्वन किया। 'भयु ओपट्' इस व्याहृति से (लनवानार्थ) बल को पाश से मुक्त किया। 'यव' इस व्याहृति से कल को पुष्य किया। 'ये ववामदे' इस व्याहृति से (दोहनार्थ ऊप-यन) के समीप बैठ गए। एव- 'बौपट्' इस वषट्कारमिका व्याहृति से ही उस विराट् का दोहन कर लिया। यह पुत्रिणी ही निम्नयेन विराट् है। इसी का वर (उक्त लक्ष्य) दोह है। (जिस प्रकार प्राकृतिक मान बेबता इस विराट् रूपय-गौरुपरा-पुत्रिणी के दोहन से अग्नी समूह कामनाएँ पूरी किया करते हैं) इसी प्रकार वह विराट् इस ववामान के लिए वे समूह कामनाएँ प्रदान कर देती हैं जो प्रमान विराट्गो के उच्चतम प्राकृतिक दोह का रहस्य जानता है ॥ (२०) ॥

आभाषण प्रत्याभाषणनिगदसमाप्त

— २ —

पाँचवें अध्याय में दूसरा चौथे प्रपाठक में तीसरा

'सुगादान' समाप्त

मूक्तानुवादसमाप्त (ग)

घ—सुगानुगतपदातिर्षमह—

१, २—सुगादान, सुया आधावण प्रत्याभाषणकर्म

वरणकर्म समाप्ति के अनन्तर 'होवा' नामक श्रुति-अवर्ण और आग्नीज के अंत रेघ में राघचरता है। इस होतुष्टु के सम्पर्कन (स्पर्श) कर्मानन्तर अवर्ण और आग्नीज दोनों पधारवाण बैठ जाते हैं—वेना कि—'सम्पूषा उपविष्टः' (का श्री ए० १।१।१५) इत्यादि स्तन व्याख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है—(देखिए। घ वि मा ५ का २ अ० ८४ पुत्र)। सुगानुगता इन पद्धति के अनन्तर वमप्राप्त 'सुगादान' कर्म की दृष्टिकल्पना प्रारम्भ होती है। अन्वय जहाँ जूष्णी बिना मन्त्रप्रयोग के सुगादानकर्म होता है वहाँ प्रकृत होइ में मन्त्रोच्चारणपूर्वक सुगादान विहित है। वरणकर्म से हुत होवा अग्निहोता वेत्तनहोत्रम्' इत्यादि मन्त्रक्षेत्र सुगादाननिगम का पाठ किया है। इसर होवा मन्त्राङ्क आरम्भ करता है, उपर अवर्ण सुद उपर नामक एक का प्रारम्भ करता है। यही समन्वय सुगादान' कर्म है। होतुष्टु के

निगदम्ब के— 'अग्निहोता वेत्स्येहोम वेत्त वाविम वायु से वसमान देवता'—^{बोद्धि}
 होतारमन्त्र का वृत्तस्तीमन्त्रों । सुवमात्स्वत्त वेत्तुव विन्मत्तामीवमई देवी १३ ईश्वरान्
 मन्मत्ताम नमत्तान् वसाम वसिवात्' इत स्वस्व के उच्चारण में मी बोड़ी विन्मत्ता ईश्वर
 आरम्भ से 'वसमान देवता' पर्यन्त हो होता उपाङ्ग—मन्मत्स्वत्त—उच्चारण करता है—
 'बोद्धि' से आरम्भ कर 'वसाम वसिवात्' पर्यन्त उच्चारण से उच्चारण करता है ।
 किंतु उमन होता के मुक्त से—'वृत्तस्तीमन्त्रों ! सुवमात्स्वत्त' मन्मत्ताम उच्चारित होकर
 है उची उमन (इत्यमन्त्रमन्त्रोच्चारण काग में ही) अन्त्यु सुक् का मन्त्र करता है ।
 होतृवत्तु निगदपात्र काग में अन्त्यु द्वारा स उच्चारण ही 'सुगादापन' कर्म है, यही
 निम्न है ।

मन्त्रान् कात्वात्त करते हैं कि, सुगादापनकर्म प्रवाचकर्म के समीप ही विहित
 है । अतएव मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही सुगादापनकर्म करता चाहिए । होतृवात्त प्रत्युक्त
 निगदम्ब के—'वृत्तस्तीम' माग के उच्चारित होने पर अन्त्यु सुक्—उच्चारण नामक सुक्
 का प्रथम कर इतिमी से पूर्व परिधिमी से पश्चिममार्ग से वामपाद से वेदि के इक्षिप
 पात्र में (बोद्धि—वसति प्रवेश माना गया है) का के ईशानामिमुक्त स्था हो जाता
 है । वही स्था होकर वह—मो भाव्य वह आहति (—आन्वीज क, प्रति) बोद्धि
 है । प्रत्युक्त में आन्वीज—अथ औषट् इत आहति का प्रयोग करता है । अन्तर
 पुन अन्त्यु—होता को ज्ञान बना कर—'वसिवा वेत्त' इत आहति का उच्चारण
 करता है । प्रत्युक्त में होता—'वे वसामहे' इत आहति का उच्चारण करता है ।
 त्वान्त में अन्त्यु सुक् को प्राप्नुक्त बनाता हुआ औषट् इत अन्तरात्मिका आहति
 के उच्चारण के साथ साथ सुक्स्ति आत्म क तृतीयांश की आहुति दे देता है । सगा
 दापन तथा आभावन कर्म की इसी इतिकर्तव्यता का स्वीकरण करते हुए उच्चार
 करते हैं—

(१)—अग्निहोति सुगादापन प्रवाचक, तन्निवे । का भी ३४ १२।११ ।

(२)—वृत्तस्तीमित्तुके सुगादापन, अतिक्रम्य आभावन आह—'वसिवा वेत्त'
 ति । का भी ९ १२।१७ ।

इति—सुगानुगतपद्धतिसंह (व)

उ-वैज्ञानिकविवेचना—

१—सुगदापनकर्मोपपत्ति

अथमुक्त परण कर्म स एत दाता स्वस्वयनप्रप-कर्मानन्तर-अभिज्ञाता

स्वयन्तर्दोषम् —इत्यादि प्राकृष्यपठित सुगदापन कर्म का पाठ करता है।

परणकर्म से एत यत् मनुष्य होता अपन स्वाभाविक-औत्पासिक-महप्रसिद्ध अनृत भाव से प्रज्ञापराध का महप्र पात्र है। असावधानी पर धठना मनुष्यस्वन इराका स्वभाव है। यज्ञकर्म वह प्राकृतिक कर्म है, द्विजम ही जानपासी घोड़ी भी असावधानी यज्ञस्वरूप विह्वल कर देता है कर्मस्वरूप अज्ञानक यत् अनिष्टजनक पन सफटा है। इस अनिष्टजनकताप्रवृत्तक मानुषदोष क निराकरण क लिय यह मनुष्य होता अपन हात्र कर्म का उत्तरदायित्व मन्त्र शक्ति द्वारा प्राकृतिक प्राणात्मक दिव्याग्नि पर ही डाल रहा है। प्राकृतिक दिव्याग्निलक्षण दिव्यहोता का लक्ष्य बनाता हुआ वह कहता है कि,—“मैं इस यज्ञ का होता नहीं हूँ। दाता तां दिव्याग्नि है। जो वास्तविक होता है, वे ही अपन “म होत्रकर्म का इतिकृतव्यता का ध्यान रखत। मुझसे जो असावधानी हागी यह ऊन्हीं की असावधानी मानी जायगी। लौकिककर्म हों, अधवा बहिक (शास्त्रीय) कर्म, दानां क लिये प्रेरणा पक्ष हमें प्राकृतिक प्राणदेवताओं से ही मिलता है। होता सब कुछ है प्राणदेवताओं की प्रेरणा से ही हम करते सब कुछ हैं—प्राकृतिक ब्रह्म प्रेरणा से ही। परन्तु यागमाया क बन्धन स अहन्ताभिमान हमें दाता है। हम यह मान बैठत हैं कि, हम ही सब कुछ कर रह हैं, जबकि तत्त्वतः—“तृणस्य कुम्भीच्छरणज्यरास्ता सिद्धान्तानुसार उन प्राकृतिक शक्तियों क आगे हमारी स्वतन्त्र सत्ता का कुछ भी मूल्य नहीं है। कनापि ध्वन इन्द्रियिणेन वचनानिमुक्ता-“मि, तथा करामि” क अनुमार इन्द्रियाण्डिन्न दिव्यप्राणशक्तिधन अन्तर्ध्यामी की प्रेरणा से ही हमारा सम्पूर्ण कर्मकसाप सञ्चालित है। जो व्यक्ति अपन कर्मों स इदमथ द्यमाना मूर्ति इस अन्तर्ध्यामी का साक्षी बनाए रहता है मिश्रध्वन इस आप्यात्मिक भावना मात्र स हमका कर्म मानुषभाव से पृथक् रहता हुआ सफट्य हो जाता है। यही भारतीय भक्तिश्रान्त का सुप्रसिद्ध “आत्ममगण लक्षण भक्तिपाग है, जिसक अनुगामी भक्त सदा गिहन्त बन रहत हैं। टीक इसक विपरीत अन्तर्ध्यामी की दुमर शब्दां स दिव्यप्राणशक्तियों की कपशा कर जो मनुष्य अपने यत् का अभि

मान करते हुए कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। अवश्यमेव उनसे प्रजापत्यादौ लोकलोकैः परम्परारूप उनका कर्म अपूर्ण रहता हुआ अग्निष्टवनक बन जाता है। कल्प है। लौकिक कर्मों में मनुष्य अपनी शक्ति के भरोसे पर भी बचावबचिस्त्र कर्तव्य प्राप्त करते। परन्तु इन वैदिक कर्मों की सफलता—तो शिवका विभव एवं वाय प्राकृतिक कर्मों को अक्षर केसर हुआ है—उन प्राकृतिक प्राणदेवताओं के यही आत्मसमर्पण से ही सम्भव है। लौकिक कर्मों में जहाँ वाक्छान्द्रिचर्म कर्म दे देता है, वहाँ अलौकिक वैदिक परोक्ष कर्मों में इतनी वाक्छान्द्रिच कर्म है। अतएव इनके सम्बन्ध में हमारा स्वभावभिमान सर्वथा निरर्थक ही सिद्ध हो जाता है। अतएव आवश्यक है, कि हम अपने वाक्छान्द्रिच वैदिक कर्मोंका मात्र प्राकृतिक प्राणदेवताओं पर ही डाक दें। अवश्य ही इस आत्मसमर्पण से हमारा निम्न कर्म बिना किसी विप्रवाधा के साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न हो जायगा। एकमात्र इती भावना को व्यक्त करने के लिये ही, भावना द्वारा स्वाभिमान निराकरण पूर्ण हैवात् प्रह्म प्राप्ति के लिये ही होना चाहता है कि—‘होता अग्नि ही अपने होय कर्म को जाने’। इसी भावना का स्वीकरण करते हुए मुनि ने कहा है—‘अग्निरिदं होय देतु इत्येवैतदाह।’

मन्त्र का अगला भाग है—‘केतु प्रावित्रम्। अनुष्ठेय होयकर्म की सफलता से ही वाक्छान्द्रिचसिद्धि सम्भव है। अतः प्रथम अनुष्ठेयकर्म की सफलता अभीष्ट है। उसी के लिये ‘अग्निरिदं केतुप्येवोम्’ यह कहा गया है। अनुष्ठेय होय कर्मनन्तर वृत्तरा सध्य वह है। इसके लिये भी उसी प्राणाभिदेव को सहाय बनाना आवश्यक है। अवश्य ही वह जैसे पवित्र कर्म का उत्तरदायित्व भी अग्नि अवश्य ही स्वीकृत करेगा। निम्न पातकजनक-असात्कर्म जहाँ विभ्यप्राण समर्पणा से बहिष्कृत हैं, वहाँ पुष्पातिशयजनक-येष्ट-सात्कर्म (यज्ञ-हो-वानादि शास्त्रीयकर्म, इह-आपूरी-यत्तादि लौकिक कर्म) विभ्यप्राणनर्पणा के अन्तर्भूत माने गये हैं। पवित्रतम प्राणदेवता सजातीय पवित्रतम कर्मों के ॥ सहाय बचा करते हैं। आसुर व्यपवित्र कर्मों के लिये जहाँ आसुर-मर्त्तिन प्राणों से प्रेरणा बल मिलता है वहाँ विभ्य-पवित्र कर्मों के लिये विभ्य पवित्र प्राणों से प्रेरणा मिलती है। उस वक्त्र से अन्य ओर कौन सा कर्म अतिशयल्लेख विभ्य, एवं पवित्र कर्म होगा, जिसके आधार पर प्रजापति का पवित्रतम धृष्टिकर्म प्रतिष्ठित है, प्रजापति की प्रजा का जीवन सुरक्षित है। इहकामधुक वह अपने प्रजाप

दो अवयवों से अन्य पवित्र कर्मों की तुलना में बिनाप रूप से पवित्र बना हुआ है। अग्नि और सोम दोनों तत्त्वों के रासायनिक सम्मिश्रण से उत्पन्न उभयात्मक अपूर्व भाव ही 'यज्ञ' है। अग्नि की पवित्रता श्लोक में भी प्रत्यक्ष है। दूधिन मैलिन-अशुचि-माथों को नष्ट कर देना अग्नि का मुख्य काम है। इसी आधार पर तो पात्रादि की अशुचि अग्निताप से छोक में दूर की जाती है। अतएव शरीर में अग्निदेवता 'परमया ज्ञया ब्रह्मलीति' (प्रज्वलित रहते हैं), तभी तक अध्यात्मसंस्था (आत्ममुक्त शरीर) पवित्र रहता है। अग्निदेव के उतकान्त होते ही आसुर अलीम बालममाण का प्रमुख हो जाता है, फलस्वरूप शवशरीर सबंधा अशुचि-पूतिगन्धमुक्त बन जाता है। अग्नि का यह पावक धर्म द्वाक्सोमाहुति पर ही निर्भर है। जब तक द्वाक्षसोम द्वाहक अग्नि में आहुत होता रहता है, तभीतक अग्निदाम्नि प्रज्वलित रहता है। अतएव पवित्र धर्म का मूल प्रवर्धक पारमेष्ठ्य 'अन्न' नामक सोमतत्त्व ही माना गया है, जिसका—'पवित्र ते वितत ब्रह्मस्वते' इत्यादि श्रुत्यन्तर से विशदयन हुआ है। पवित्र अग्नि, अग्निस्वरूप रहक पवित्र ब्रह्मणस्पति-अन्न-नामक पारमेष्ठ्य सोम, दोनों पवित्र तत्त्वों के समन्वित रूप का ही नाम पूर कवनानुसार यज्ञ है। जिसका स्वरूप विश्व के सबभेद हो पवित्र तत्त्वों के सम्मिश्रण से निष्पन्न हुआ हो उसे (यज्ञ को) हम अन्य पवित्र तत्त्वों की अपेक्षा अवश्य ही अतिशय रूप से पवित्र कह सकते हैं। इसीलिये तो भेदकर्म परिगणना में इसे—'यज्ञो वै भेदतम कर्म' इत्यादि रूपसे भेदतम बतलाया जाता है। यज्ञ की यही अग्नि-सोममयी-वसवधर्मात्मिका अतिशय पवित्रता सूचित करने के लिये ब्रुति ने इसे 'आवित्र' (प्रकर्षण अवति) कहा है। प्रावित्र शब्द से यद्यपि प्रकृत में रखा कर्म ही अभिप्रेत है। तथापि रक्षात्मक यह यज्ञकर्म चूँकि पवित्रतम है, अतएव प्रसङ्गोपात्त परम्परया प्रावित्र से यज्ञ के पवित्रतम धर्म का भी बिनादपण कर दिया गया है। अग्नीषोमात्मक यज्ञ की अग्निषोमात्मिका पवित्रता ही रक्षाकर्म का प्रधान निमित्त बनती है। एकमात्र इसी आधार पर 'प्रावित्र से पवित्रतम' रूप फसिताय भी निष्काशा जा सकता है। प्रकृत रक्षात्मक धर्म तो यज्ञ का स्पष्ट ही है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधि वैविक, तीनों ही सत्त्वार्थों की रक्षा अग्नीषोमात्मक यज्ञ पर ही निर्भर है। अग्निदानात्मक यज्ञ आध्यात्मिक संस्था का रहक है, आधानविसर्गक्रियात्मक यज्ञ

आधिभौतिक संस्था का रक्षक है, एवं पारमेष्ठ्य सोमाहुत्यात्मक यह आधिभौतिक मोरसंस्था का स्वरूपरक्षक है। सर्वरक्षता ही यज्ञ का अन्यरक्षकापेक्षया प्रकृत रक्षा धम्म है—अतपय यह प्रावित्र है। प्रावित्रयज्ञ का यथानुरूप स्वरूप ज्ञान ही होत्रकर्म-सफलता का मूल है। अतपय अनुष्ठय जग्निकर्मात्मक होत्रकर्म परिज्ञान के साथ साथ यज्ञस्वरूप परिज्ञान भी आवश्यक रूप से अपेक्षित हो जाता है। अतपय होत्रकर्म के साथ साथ—केतु प्रावित्रम् से यज्ञकर्म की ओर भी दिव्याग्नि का ध्यान आकर्षित किया गया है। यज्ञकर्मानुगतता इसी भावना का स्वीकरण करते हुए भुक्ति ने कहा है— यज्ञो वै प्रावित्रम्। केतु यज्ञमित्येवैतदाह। समय धात्रि निष्कप यही है कि—मेरा। (मानुष होता का) होत्रकर्म, तथा तद्द्वारा सम्पन्न होने वाला यज्ञकर्म दोनों के प्राणामिदेव साक्षी बने रहें। ऊन्हीं से इन दोनों की सफलता के लिए प्ररणाबल मिलता रहे।”

मन्त्र का अगला भाग है—‘साधु ते यजमान देवता’ (योऽग्नि होतारम पूवा)। देवबलानुग्रहप्राप्त्यनन्तर होता का वह एक आत्मविश्वास हो जाता है कि, अथ निश्चयन यजमान का यज्ञकर्म निर्विघ्न सुसम्पन्न हो जायगा। अपने इसी आत्ममान को वह यजमान के प्रति इन शब्दों में प्रकट कर रहा है कि—ह यजमान। तुमने किसी सामान्य व्यक्ति का होत्रकर्म के लिये वरण नहीं किया है। अपितु मर व्याज से तुमने उस दिव्यप्राणाग्नि का होत्र कर्म के लिये वरण किया है जिसके अनुग्रह प्राप्त हो जानपर अवश्यमय यज्ञकर्म सफल हो जाता करता है। तुमने जिस अग्निदेवता का आश्रय लिया है तुम्हारे व अग्निदेवता से होत्र कर्म के लिये साधु हैं, पूर्ण समर्थ हैं। यह तुम्हारा सीमाम्य है कि, अग्नि जिस अष्ट देवता का तुम्हें सहयोग मिल रहा है। स्वाभाविक यज्ञपटति के साथ साथ ही इस विद्वत्पण से भुक्ति संकेतरूपण हमें यह लोकशिक्षा भी है रही है कि, हमें अपने मौक्तिक कर्मों में ऊन्हीं सहयोगियों का सहयोग लेना चाहिये, जो स्वयं भी इस कर्म में रुचि रखते हैं साथ ही हममें उसे सफल बनाने की योग्यता भी हो। बस पाप्य-प्रामाणिक-समर्थ-महर्षिगिरा के मध्य लोक में भी यही सूक्ति व्यवहृत है कि—अथ उनका काव्य अक्षय्य सफल हो जायगा क्योंकि अमुक धाम्य १ प्रामाणिक व्यक्ति ने उसका भार उठा लिया है। प्रकृत में दाता—साधु व श्यादि मन्त्रद्वारा यजमान का कर्मनिष्ठा का ही प्ररणाबल प्रदान कर रहा है।

यजमान का आत्मविश्वास भी तो यज्ञ सफलता के अन्यान्य कारणों में से एक अनन्यतम कारण है। इसी भावना का स्वीकरण करती हुई भुक्ति कहती है—
“माधु से यजमान दृढता यम्य तऽग्निर्होना इत्यदेतदाह ।

मन्त्र का अगला भाग है—‘धृतवतीमध्वर्यो यूपमास्यस्व । यह वाक्य अध्वर्यु की उद्देश्य बना कर कहा जाता है। अग्रे क अनुमह प्राप्ति का अर्थ है—अग्नि देवता का यज्ञसीमा में प्रविष्ट हो जाना। ‘ह्यग्र कर्म को आप उद्देश्य धरते हैं यज्ञ का उद्देश्य यनाह, यजमान। तुम्हारा यह कार्य सफल हुआ समझो, जहाँ अग्नि उसे हाता न अनुमह कर दिया’ इस भावना को व्यक्त करने वाला निर्गोह मन्त्र भाग में अध्वर्युमन्त्र प्राणाग्नि यज्ञमण्डल में प्रविष्ट हो जाता है। आगत अग्निदेव की परिचर्या उसी व्यवहारमध्वर्या की भाँति आवश्यक है, जैसे धार्वाक सम्मान्य अतिथि का अध्ययनादि से सम्मान किया करते हैं। अग्निदेव की परिश्रुति से सम्बन्ध रखन वाली आहुत्याहुति है। यह आहुतिकर्म अध्वर्यु से सम्बन्ध रखता है। अतएव अनुमह प्राप्तिप्राप्ति हाता का वह भी आवश्यक कथ्य हो जाता है कि, यह आगत सम्मान्य अतिथि के स्वागत से सम्बन्ध रखन वाले आहुत्याहुति कर्म की बार आहुतिप्रणता अध्वर्यु का ध्यान आकापत करे। एकनाग्र इसी अग्निप्राय से अध्वर्यो। आप धृतवती यूप का ग्रहण करे (क्याकि आहुति प्राहक अग्निदेव पधार आए हैं) यह प्रेरणात्मक मन्त्र भाग प्रयुक्त हुआ है चिमका तात्पर्य—‘तद्वयु प्रसीति इम आह्वययचने से स्पष्ट हुआ है।

पटतिप्रकरण में यह कहा जा चुका है कि, हाता के मुख से ‘धृतवताम्’ व्याहृति के उच्चरित होते ही अध्वर्यु जुहूँ उपरान् नामक दाना यूपों को आहुति के छिद्र हाथ में ले लाता है। प्रदेग हाता है जुहूँ उपरान् दोनों का। परन्तु हाता द्वारा ग्रहण की प्रेरणा दाना है—कयत् एक (जुहूँ) यूप की ही। एसा क्यों?। अब पटति में दाना का ग्रहण विहित है, तो मन्त्रभाग में भी धृतवती यूपों इत्यादि रूप से द्विर्बचन का ही प्रयोग होना चाहिए था। इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई भुक्ति कहती है कि—(१)—निदानविद्या के अनुसार जुहूँ नामक यूप यजमानम्यानीया है उपरान् नामक यूप यजमान क शत्रु की प्रतिहृति है। इससे अतिरिक्त जुहूँ अन्ता की प्रतिहृति है तो उपरान् आद्य (माग्य) की। ऐसी स्थिति में यदि दाना ‘जुहूपभुतावात्यम्’ इत्यादि रूप से द्विर्बचन का प्रयोग होगा

तो यज्ञमान का शत्रु यज्ञमान के लिये प्रतिस्पर्द्धा करनेवाला बन जायगा। इसके अतिरिक्त योग्य सम्पत्ति भी मोक्षा यज्ञमान के लिये प्रतिकूल बन जायगी। भावनात्मिका यज्ञप्रक्रियाओं का फलाफल एकमात्र भावना पर ही अवलम्बित है। एवं इन भावनाओं के मूलाधार उसी प्रकार आधिभौतिक यज्ञिय द्रव्य हैं, जैसे कि तपासनाकण्ड में तपास्य प्राप्ति के लिये तपास्य के यत्किंचित समझनों से सम तुलित आधिभौतिक पदार्थों में आह्वार्यारोपविधा से तपास्य की रूपना की जाती है। इसी आह्वार्यारोपविधा के आधार पर तपस्य को शत्रुभावना से, एवं भोग्यभावना से युक्त समझा जाता है। शत्रु को यज्ञमान भावना से, तथा मोक्षा भावना से युक्त मान लिया जाता है। तपस्य को शत्रु की तुलना में रखना शत्रु को समान बलशाली बनाना है, भोग्य को प्रतिकूल बनाना है। यह भावना यज्ञमान के लिये अनिवार्य बनती है। अतः एकवचन का ही प्रयोग किया जाता है। ग्रहण होता है दोनों का, प्रेरणा मिश्रित है एक के ग्रहण की। यही—असत्ये वर्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीक्षते सञ्चय आह्वार्यारोपमूला प्रत्ययात्मन्वनता है, जिसका गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत तृतीय अण्ड के 'अ' विमलात्मक तपास मोक्षर अण्ड के—'तपासनामेवनिर्बचन नामक प्रकरण में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। इसी भावना को व्यक्त करती हुई श्रुति कहती है—'तस्मादेकानि वैवाह ॥२॥

मन्त्र का अगला भाग है—'यैवमुवा विश्ववाराणम्'। 'अध्यात्म गत प्राणदेव' ताओं का आधिभौतिक सत्सम पदार्थों के माध्यम से आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ चितिलक्षण अन्तर्व्याप्त सम्बन्ध करा देना ही यज्ञ का फलितार्थ है। होतृकृत निगद पाठ से प्राणायाम का यज्ञमण्डल में समावेश तो हो गया है। परन्तु अभी तक इनका यज्ञमान के आध्यात्मिक प्राणदेवताओं के साथ मन्त्र बन्धन सम्बन्ध नहीं हुआ है। यह काम मुख्यत्वा आधिभौतिकी आध्यात्मिकता पूरा करती है। शत्रु नामक अक्षुपात्री भी आधिभौतिक पदार्थ है, आहुति के लिए शत्रु में प्रतिष्ठित आभ्यमात्रा भी आधिभौतिक ही है। इन दोनों आधिभौतिक द्रव्यों पर यज्ञकर्ता यज्ञमान का सत्य है, ममत्व है। दोनों पर यज्ञमान की मृतात्मसत्ता आक्रमण है जिस विस्तारगता जात्मसत्ता के लिये—'यावद्विस्त तावदात्मा यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। निष्कपत आभ्यपूर्ण शत्रु में यज्ञमान के प्राणदेवता प्रतिष्ठित है। अथवा आहवनीय कुण्डस्थ 'सैमिद्र' अग्नि में गुह्योक्त

से आगत आभिर्देविक प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है। इनमें आज्याहुति होती है। परिणाम यह होता है कि, आज्याहुतगत यज्ञमान के प्राणदेवताओं का आज्याहुति द्वारा आहवनीयस्य प्राणाग्नि के साथ प्रन्विबन्धन हो जाता है। इस प्रकार आज्यपूर्ण जुहू यज्ञमान प्राण का प्राकृतिक प्राणदेवताओं के साथ योग करानेवाली बन रही है। यही देवयुवा रूप पट्टिका धर्म है। यज्ययावत् (३३) प्राणदेवताओं के द्वारा यह जुहू (आज्य सम्बन्ध से) बरणीय है। सभी प्राणदेव इसकी इच्छा रखते हैं। देवमिया, देवयुवा, जुहू वास्तव में यज्ञकर्त्ताओं के लिये स्तुत्या है, प्रशंसनीया है। मन्त्रभाग द्वारा जुहू के उक्त दोनों धर्मों का विश्लेषण हुआ है, साथ ही इस की स्तुति, एवं प्रशंसा हुई है। सबत्र चैतन्य का साक्षात्कार करने वाली मृपिष्टांष्टे के छिपे जुहू की स्तुति प्रशंसा अवश्यमेव तत्त्वविज्ञान सम्मत है।

मन्त्र का अगस्ता भाग है—**ईदमह देवाँ ३॥ ईदैन्यान्, नमस्याम नमस्यान्, यज्ञाम धतिषोम्**। ज्योतिष्मय तस्व इति देवता है। यह ज्योतिर्भाग पृथिवी, अन्तरिक्ष, यो, इन तीन लोकों के भेद से तीन स्थानों में विभक्त होता हुआ विभिन्न तीन नाम रूप-गुण-धर्मों में परिणत हो रहा है। तीनों में मुख्यतः गुणोक्त्य सौम्याणमूर्ति देवतत्त्व ही है। सौरज्योतिर्भाग (प्रकाश) सर्वप्रथम अन्तरिक्ष लोकोपासमित्र सौम्यचान्द्रपिण्ड में मुक्त होता है। चान्द्रमसी ज्योति बस्तुगत्या प्रवृत्त सौरी ज्योति ही है। द्वितीयस्थान पृथिवी लोक है। यहां आकर मृतभाग के आत्यन्तिक आवरण से सौरज्योति का क्षज्योतिर्भाग, तथा चान्द्र ज्योति का परज्योतिर्भाग दोनों अभिमूत हो जाते हैं। अतएव पार्थिवी ज्योति केवल रूपज्योति कहलाई है। रूपज्योति में (पार्थिवी ज्योति में) इस पार्थिव प्राणाग्नि का समावेश है जोकि—**येषानर नाम से प्रसिद्ध है, जिसे कि यजुः संहिताने बिराट्पुरुष** कहा है जिससे कि, **पुरुष-अथ-तो अवि जग** इन पांच यक्षियपशुओं का स्वरूप निर्माण हुआ है, जो कि पुरुष (मनुष्य) पशु में अपनी पूरी मात्रा से विकसित है। यही नैश्चानरग्नि भूतामिमेव से अभ्युत्पन्न है, मृग्य माय है। अतएव —**हृज्योऽस्यासरेष्टः** इत्यादि रूप से इस पार्थिव अग्नि को हृज्यमृग्य नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। इस हृज्यमृगाग्नि की सहयोगिनी रूपज्योति दूसरे शब्दों में पार्थिवप्राणाग्निमुक्त दिव्यपूज्य ज्योतिर्भाग ही पार्थिवदेवता है। आन्तरिक्ष चान्द्रमासावच्छिन्न विन्दु ज्योतिष्मय भाग

जाते हैं साथ ही यज्ञ में अन्त्यामक प्रजा के व्यवहारों में भी उनका विशेष उप-
योग नहीं होता। मनुष्य यदि यक्षिय है, तो किपुरुष अयक्षिय है। एवमेव अश्व,
गौ, खवि, अज, चारों यक्षियप्रजाओं के प्रतिकूल क्रमशः गौर गवय, हन्, शरभ
ये चार अयक्षिय प्रजा हैं। एवमेव बज्रा, वगया, खरपादा, यह प्रजात्रयी भी—भ्रजा
ह विद्या अरयायमीषु के अनुभार पराभूता है, यज्ञे नन्यामका है। मापादि
आपभियाँ अयक्षिय हैं। इन अयक्षिय, अतपव पराभूत पदाओं के अतिरिक्त
जितने भी स्थिर चर यक्षिय पदाथ हैं उक्त सगन्धी से उन सब का ग्रहण हो
जाता है। इस प्रकार ईद्वन्त्य मानव सग से अद्वयानि यक्षिय पशुओं का यक्षिय
देयसर्ग से कविचक्षादि पक्षियों का भीहि यक्षादि औपधियों का पलारा कार्प्य-
र्यादि बनस्पतियों का ओर ओर भी जितने यक्षिय पदार्थ बच रहते हैं, उन सब
का ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार—आद्यमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव
इवताभ्य निगमानुमार यक्षयावन् यक्षिय पदाथों का यज्ञ सं ग्रहण हो जाता है।
पन्मत यज्ञ का इष्टकामपुत्रस्य सर्वात्मना चरिताय हो जाता है। यही यज्ञ की
बह महामह ीयता अष्टम कर्मत्व है जिसे स्वीकृत्य बनाते हुए पाण्डिक लोग इस
में प्रवृत्त हुआ करते हैं। जिन्होंने यज्ञ का अनुगमन किया उन्हें मय बुद्ध भिन्न
भी गया साथ ही उन का वगमय भी म हुआ। जिन्होंने यज्ञ का निरस्कार
किया उनकी मत्ता ही उच्छिन्न हो गई ॥ ५ ॥

यज्ञ पट्टनि में विहित प्रत्येक आधिभौतिक कर्म से यज्ञमान के मानुषात्मा में
काई न काई यज्ञानिरास व्यक्त किया जाता है। यज्ञकर्मममष्टि सं बह यज्ञा
निरास सर्वाङ्गीण बनता हुआ यज्ञमान के मानुषात्मा के साथ अन्तर्ध्याम सम्बन्ध
करता हुआ उस आधिभौतिक पन्मानुगामी बनाता है। यही यज्ञानिरास वैवात्मा
बहन्ता है जिस का स्वरूप पित्र्येण पूत्र जादणों में अमकथा हो चुका है।
तत्तन् कर्मविशेषों से इस यज्ञानिरासमन्त्रण त्रैवात्मा में तत्तन् शरीर हस्तपादादि
अवयव ही स्थापित किए जाते हैं। प्रश्न होता है कि, मय व्याहृत्यात्मक इस
गुणादात्म कर्म से (जिन नौ व्याहृतियाँ का मूमानुषात् में भी प्रत्यक्ष किया
जा चुका है) द्वात्मा में कौन से शारीरावयव स्थापित किए जाते हैं ? १। ५ की
कण्डिका इसी प्रश्न का समाधान कर रही है। हमारी अध्यात्मसंस्था के पाथ
भौतिक शरीरभाग में उष्ण, अवाष्प भद्र से और पाथिय वा प्राति के प्राय

प्रतिष्ठित हैं। मीर प्राण का केन्द्र ब्रह्मरन्ध्र है पार्श्व अपान प्राण का केन्द्र ब्रह्म
मन्थि है। ब्रह्मरन्ध्र में प्रतिष्ठित मीर प्राण उच्छ्वासस्थापन है। इससे अर्क-
रूप को सात अक्षान्तर प्राण निकलते हैं, वही आकाश (साथ रहने वाले) अमर
शरीर प्राण कहलाते हैं। दो मात्रप्राण दो बभ्रुप्राण, दो नासाप्राण, एक
मुखप्राण, इस प्रकार सातों में ६ प्राण तो यमप्राण हैं, जोड़ते हैं सातवाँ मन्त्रप्राण
जकाही है *। इसी प्रकार ब्रह्ममन्थि में प्रतिष्ठित पार्श्व अपान प्राण उच्छ्वास है।
इस से निकलने वाले अर्कमन्त्र प्राण दो भागों में विभक्त हैं। ये ही क्रमशः
वपस्व प्राण शुद्धप्राण नामक अवाच्य प्राण हैं †। सम्भव है कि अक्षान्तर नौ प्राण
हो जाते हैं। सुगुप्तापन निगम में पठित नौ व्याहृतियों से निगममन्त्रमागानुगत
संख्या सम्पन्न के समस्तुम्भ से वृक्षारमा में मन्त्रशार्पण्य मीर प्राण दो अवाच्य
पार्श्वप्राण इन नौ प्राणों का ही आधान होता है। क्यों नौ व्याहृतियाँ होती
हैं ? प्रश्न की यही सक्षिप्त उत्पत्ति है ॥५॥

इति-सुगुप्तापनकर्मोपपत्ति

— १ —

२—आभाषण प्रत्याभाषणकर्मोपपत्ति

होतृकर्तृक सुगुप्तापन कर्म के अनन्तर अन्तर्यामी आशीर्वाद होता ब्रह्मा आदि
मूर्तिवर्ग के सहयोग से आभाषण प्रत्याभाषण कर्म की इतिवृत्तप्रवृत्ति सम्पन्न
होती है। एक वैज्ञानिकी आत्म्याधिका द्वारा इसी कर्म की उत्पत्ति का (६ टी
कण्डिका में) स्पष्टीकरण हुआ है। यमन्त प्रीप्स-वर्षा शरत् इमन्तगिरि—
(इमन्तगिरिरया समाधन) इन पाँच ऋतुवर्गों का स्वरूप आशीर्वादोमात्मक माना

* साक्षज्ञानी मन्त्रधामादुरकर्तृ पट्टिपत्ता श्रूयया देवता इति ।

† तपामिप्राणि विदितानि धामश रथाग्रे रजन्त विहृतानि रूपरा ॥

गया है। अग्नि-सोम के उद्गम निगम (चढ़ाव-उतार) से ही पञ्चर्तु का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। अग्नीषोममयी पार्थिव ऋतुओं की मर्यादा ही 'सम्बत्सर' है, यही यह पक्ष है जिसके द्वारा 'सुम्यकेन्द्रस्थ' द्विगुणगर्भ प्रजापति रोदसी त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित चर अचर प्रजा का स्वरूप निर्माण किया करते हैं। इस प्राजापत्या-अग्नीषोममया यज्ञमात्रा का प्रजासर्ग से प्रतिक्षण विद्य सन हुआ करता है। प्रजा स्वरूप निर्माण में साम्बत्सरिक अग्नि-सोम मात्राओं का उपादान कारणता के सम्बन्ध से कब होना अनिवार्य है। यही व्ययमात्र विद्य सन कहना चाहिये। इसी विद्य सन का लक्ष्य में बना कर यह कहा जा सकता है कि, सौरमण्डलस्थ विद्यमयताओं का अग्नीषोममय यज्ञ सौरमण्डल से अपक्रान्त हो गया। तात्पर्य पार्थिव प्रजामार्ग निर्माण के लिए सौर देवयज्ञ की अपक्रान्ति स्वाभाविक है।

यह यज्ञापक्रान्ति नियतापक्रान्ति, अनियतापक्रान्ति, भू से हो मार्गों में विभक्त मानी जा सकती है। सौरसम्बत्सरमण्डलावच्छिन्न व्यातिर्मात्रा ही अग्नीषोममय यज्ञ है। अत्यल्प सौर प्रकाश ही इस यज्ञ का बाह्य शरीर है। वायु अग्नि में बाह्य पारमेष्ठ्य सोम आहुत हो रहा है। इसी सोमाहुति प्रक्रिया से इस उमयात्मक यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। इसी यज्ञ से (सोमाहुति से) पर ज्यातिपा वित्तमा यवघे इत्यादि ऋग्वर्णनामुसार प्रकाश का जन्म हुआ है। प्रकाश में अग्नि सोम दोनों का समन्वय है, अतएव अवश्य ही सौर प्रकाश मण्डल को यज्ञ कहा जा सकता है। यह सौर ज्योतिर्भाग सबत्र (छोकाछोक-पर्यन्त) व्याप्त रहता हुआ हमारे भूपिण्ड की ओर भी आ रहा है। भूपिण्ड के विष्कम्भ (व्यास) की उभय परिधियों से सम्बन्ध रखनेवाला सौर ज्यातिर्भाग ही प्रकृत में पृथ्वी शब्द से व्यबहृत हुआ है। भूपिण्ड-परिधि को काटकर यज्ञ (प्रकाश) भूपिण्ड से आगे निकल जाता है। इसी सौर प्रकाश बिन्दु से श्रेष्ठिकेय नामक छायाग्रमय-समाग्र राह का जन्म हुआ है। भूपिण्ड की ओर सौरमण्डल से निष्पन्न रूप से आकर अपना नियताकार बनाने वाले यज्ञ की अपक्रान्ति ही नियतापक्रान्ति मानी जायगी। यज्ञ के इस नियतापक्रान्त रूप का ही नाम अहोर्दन है जिससे किसी भी पार्थिव पदार्थ की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। सभी नियतापक्रान्त यज्ञ से सम्बत्सर का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। जिसकी ज्ञानदायादि उपनिषद् में 'अश्न' रूप से स्तुति हुई है। सौर प्रकाश आता है,

सौरदेवताओं के स्वरूपपरिष्कार यज्ञ की प्रवर्ण्य द्वारा अपक्रान्ति अवश्य होती रहनी है। परन्तु सृष्टि नियमानुसार अपक्रान्त यज्ञ वापस भी छोड़ दिया जाता है। यो मा ददाति स इ देवमावत् सिद्धान्तानुसार जो हमें देता है, वही अन्त में हमें वा भी जाता है। प्राणाग्निरूप होता प्राणवायुलक्षण अम्बुर्मु आदित्यप्राणात्मक इन्द्रावा, चान्द्रसोमात्मक मरुता, इत्यादि प्राकृतिक देवतात्मक श्रुतिवर्णों के व्यापार से अपक्रान्त यज्ञ पुनः स्वप्रमण देवमण्डल की ओर छोड़ जाता है। इसीसे देव स्वरूप-रक्षा हो रही है। यज्ञपुनर्गमन ही देवताओं का देवत्व है। इस प्रकार स्वस्वरूपपरिष्कार के लिए श्रुतिवर्णों के सहयोग से सम्बत्सरमुक्त प्राणदेवता पृथिवी की ओर अपक्रान्त यज्ञ को वापस बुला लिया करते हैं। पुनरागत वस्तु यज्ञ से यजन कर के अपना देवत्व सुरक्षित रखने में समर्थ हो जाते हैं। प्रकृत आख्यान प्राकृतिक यज्ञ के इस प्राकृतिक गमनागमनमात्र का ही स्पष्टीकरण कर रहा है ॥६॥

प्रकृत देव यज्ञ का बितान उस प्राकृतिक निरूप यज्ञ की विधा पर ही हुआ है। जैसा, जो कुछ, वहाँ हो रहा है, वैसा वही सब कुछ वहाँ कल्पित है, जैसा कि—‘देवान्नु विधा वै मनुष्या’ यज्ञ देवा अकुर्वन्तु करवाणि इत्यादि निगम वचनों से प्रमाणित है। जिस प्रकार सौरमण्डलस्व देववर्ग की अपेक्षा से यज्ञमात्रा पृथिवी की ओर अपक्रान्त हो रही है एवमेव हम पार्थिव प्रजाजों की अपेक्षा से यज्ञमात्रा सौरमण्डल की ओर अपक्रान्त हो रही है। जैसे उन्हें अपने स्वरूपनिर्माण रक्षा के लिए इस अपक्रान्त पार्थिव यज्ञ की अपेक्षा है, एवमेव हमें यजमान के देवप्राणमय देवात्मा के स्वरूपनिर्माण रक्षा के लिए अपक्रान्त सौरयज्ञ की अपेक्षा है। ‘आभाषय’ इत्यादि मन्त्रवाक् के द्वारा मनुष्यविषय श्रुतिवक् उस अपक्रान्त दिव्य यज्ञसम्पन्न का एव-वैध भौतिक यज्ञ में समावेश करने के लिए ही आभाषय प्रत्याभाषणकर्म करते हैं। अवश्य ही इस मन्त्रवाक् से अपक्रान्त दिव्ययज्ञमात्रा का इस वैध यज्ञ में समावेश हो जाता है। क्योंकि, ‘आभाषय’ इत्यादिमन्त्रजिन व्याहृतियों का यहाँ प्रयोग होता है उनसे प्राकृतिक दिव्य यज्ञ ही सत्य बन रहा है। आग्नीध्र को सत्य बनाकर अम्बुर्मु के मुख से निकल्य हुए आभाषय का तात्पर्य है—‘देवताओं के लिए यज्ञ मुनाया। अर्थात् देवता इस यज्ञ की ओर सत्य हैं एमी भावना करा। आग्नीध्र अस्तुभौपद’ से यही व्यक्त कर रहा है कि ‘जो देवताओं ने मुन दिया’। जिसका तात्पर्य यही है कि, देवताओं का

(इन्द्रात्मक अपक्रान्त यज्ञ का) यहाँ पुनरागमन हो गया । इस प्रकार 'ओभाषय' इत्याकारक आभाषण दिव्यदेवात्मकयज्ञ का आह्वान कर रहा है 'अस्तु भोपद' इत्याकारक प्रत्याभाषणकर्म यमका आगमन सुचित कर रहा है ।

फलितार्थ यही निकलता है कि प्रकृत आ० प्र० कर्म अपक्रान्त दिव्ययज्ञ की प्राप्ति के लिए ही विहित है । मन्त्रभाषनाद्वारा आगत भावात्मक देवप्राणमय यज्ञ ही इस वैधयज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है । उसी प्राकृतिक दिव्ययज्ञबल के आधार पर यज्ञमान का यह वैध यज्ञ यज्ञातिशयरूप देवात्मन्प्राप्ति प्राप्त करने में समर्थ होता है । ऋत्विज सहायक बनते हैं । ऋत्विज भी तभी इस प्राप्तिकर्म में सहायक बन सकते हैं जब कि वे इस उगापृष्ठ यज्ञरत को अपनी भाषना में प्रतिष्ठित कर छेते हैं । ऋत्विजों की भाषना ही वा मुख्य है । यज्ञमान तो सम्पूर्ण उत्तरदायित्व इन्हीं पर डाल देता है । अतएव यज्ञसम्पन्न संप्रहमूलक आभाषण प्रत्याभाषणकर्म में यज्ञमान का समावेश करना अनावश्यक है । ऋत्विज ही भाषनाद्वारा प्राप्त यज्ञ की स्वरूप दृढ़ता के लिए वह मध्यम से सम्प्रदायपूर्वक आभावण-प्रत्याभावण कर्म का अनुगमन करते हैं । सम्प्रदायप्रजापति स्वयं इस आभा कर्म में परोक्ष रहते हैं । तद्व्ययवभूत तद्वरस से परिपुष्ट अग्न्यादि देवता ही इस कर्म की इति कृतम्यता पूरी करते हैं । अतः प्रजापतिस्थानीय यज्ञमान भी यहाँ (इस कर्म में) परोक्ष ही रहता है । अग्न्यादि के प्रतिनिधि ऋत्विक् ही इस कर्म का अनुगमन करते हैं । जैसा कहा जा रहा है वैसा ही यही होता है । इसी समीक्रिया की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए श्रुति में कहा है—'तेनोपापृत्तेन रतमा मृतनऽस्त्वित् सम्प्रदाय वरन्ति यज्ञमानेन पराक्रमम् ।

ऋत्विजों के भाषनात्मक मानस जगत् में अपक्रान्त दिव्य यज्ञसम्पन्न का समावेश हो गया । शुभ्राकृश्व महामहनीय देवप्राण मूर्ते यज्ञभगवान् का आगमन हो गया । जब यह आवश्यक है कि अपन इस भाषनात्मक दिव्ययज्ञ के चित्तान के लिए ऋत्विक्स्वागत पारस्परिक सहाय्य से बाह्य सम्प्रदान द्वारा बाकतत्त्व का आभय ल । भाषनात्मक मनागर्भित प्राणतत्त्व यज्ञ का प्रातिष्ठिक स्वरूप है । यह मनागर्भित प्राणयज्ञ भूतामिका बाक के आधार पर ही प्रतिष्ठित रहता है । इस ओर मन है उस ओर बाक है मध्य में शान्ति से परिगृहीत प्राण है । प्राण यज्ञ है मनाबाह्य यज्ञाधार है । अतएव मना

वाक् को मल की वर्तनी कहा जाता है। इस ओर श्रुतिज्ञों की-मातृना (मन) है, उस ओर मन्त्रप्रयोग (वाक्) है। दोनों से मध्यस्थ प्राणात्मक वह महीमापि परिगृहीत हो जाता है। यद्यपि यह का भौतिक स्वरूप मात्र ही है, तथापि एक विराप इस से वाक् को ही यज्ञ का भौतिक स्वरूप मान लिया जाता है। वह विशेष इस यही है कि, प्राण विना मूलो वाक् के नहीं रहता। अथ वाक् से मनः प्राण वाक्, दोनों का प्रण हो जाता है जैसा कि वाक्-राज्यनिर्माण से सुप्रमाणित है। उ अ-अप् से वाक् राज्य निष्पन्न हुआ है। उकार प्राण का, अकार मन का वाक्क है। उकार अकार (प्राण-मन) की स्वस्वत्परम्परा के क्रिय कामना करने वाला तत्त्वविशेष ही अप् से सूचित हुआ है।, इस प्रकार वाक् (वाक्) से तीनों का समग्र हो जाता है। मनोगमित प्राणात्मक वह अपने केवल मनोमय प्राणरूप से वह एक व्यापार करने में असमर्थ बना रहता है, जब तक कि वह भूतमयी वाक् को भी अपनी वर्तनी नहीं बना लेता है। मूल ही प्राणव्यापार का आद्यन्वन बनता है। मूलाधारेणैव प्राण, स्वयत्न प्रयोग में समर्थ होता है। अतः एव श्रुति ने मनोगमित प्राणात्मक वह का रत (ब्रह्मयोगसाधन) को वाक् को ही माना है एवं यज्ञरूप भी वाक्मय ही माना है। यज्ञस्वरूपसम्पत्ति वाक् में, आग्निमीतिक मत्स्यभाग, आधिदेविक अमृतभाग दोनों का अमाकृत है। मत्स्य वाक् का आधार अमृतावाक् है। अमृतावाक् का ही विधान होता है। इसी विधान से मूलवत् भूभोक से धुमोकापर्वन्त, पृथ से रश्मिस्तार सामपर्वन्त वितत होता है। आँकिकी वाक् अमृतवाग्गमित मत्स्य वाक् है। श्रौतिकमयवहारमन्त्रासन इसी वाक् से होता है। अँकिकी वाक् मत्स्यवाग्गमित अमृतावाक् है। वैदिकइम्ममन्त्रासन इसी वाक् से होता है। मत्स्य वाक् से व्यञ्जनात्मिका अनुष्टुप्वाक् समनुष्ठित है। अमृता वाक् से उवात अनुवातादि स्वरात्मिका वृहती-वाक् समनुष्ठित है। अतएव वैदिकी मन्त्रवाक् में तत्त्वानुगत स्वरा के अनुसार ही उवातादि स्वरों का समिवेश हुआ है। यह स्वरवाक् ही श्रुति सामात्मिका बनती है यज्ञवितान का कारण बनती है, इसलिये भी वाक् को ही यज्ञ कहना अन्वर्थ बनता है। वाक्मय के इसी यज्ञरूपप्रतिष्ठारमक आद्य का सत्य वतावर श्रुति न कहा है—वाक् हि यज्ञं वाग्नु रतः ।

देवाह्वानलक्षण आभाषयेत्यादिस्वरूपा मन्त्रवाक् के द्वारा आश्रय भूमिर्वा को अपभ्रान्त यज्ञसम्पत् का सम्पादन करता है। प्राकृतिक सम्बत्सरघट के सप्तह अवयव माने गए हैं। 'अग्निं ये यज्ञ' इस निगमवचन के अनुसार सोमगर्भित अग्नि ही यज्ञ है, सैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। भूवेन्द्र से आरम्भकर भूमिर्मा के १० वें अह्मणपर्यन्त यह यज्ञाग्नि व्याप्त है। सप्तहर्षा स्थान ही आह्वनोपकुण्ड माना गया है। इससे प्रविष्टित प्राणाग्नि में १० से ३३ पर्यन्त व्याप्त रहने वाले सोम की आहुति होती है। यज्ञाग्नि प्रवृद्धित हो पड़ता है। प्रवृद्धित होकर यह यज्ञाग्नि २१ वें अह्मणपर्यन्त व्याप्त हो जाता है। २१ तक व्याप्त यज्ञाग्नि के ६—१५—२१—ये तीन विक्रम मान लिये जाते हैं। त्रिभुत (६) स्तोमात्मक प्रथम विक्रम पार्थिव है, पञ्चवरा (१५) स्तोमात्मक द्वितीय विक्रम आन्तरिक है, एवं एकविंश (२१) स्तोमात्मक तृतीय विक्रम दिव्य है। यज्ञ ही विष्णु है। यही त्रिविक्रम विष्णु है। कल्प्य यही है कि, यज्ञाग्नि यद्यपि आहुति सम्बन्ध से २१ तक (सूर्यतक, क्योंकि—एकविंश वा इत आदित्य^१ इत्यादि मृति के अनुसार सूर्यसत्ता मूणिष्ठ से २१ वें अह्मण पर ही मानी गई है) व्याप्त हो जाता है तथापि इसका मौलिक स्वरूप १० वें अह्मण पर्यन्त ही व्याप्त माना गया है। सप्त दशस्तोमावच्छिन्न यज्ञाग्नि के १० अह्मण ही १० अवयव हैं। ये १० हों वाक्यमवयव बिना किसी बिच्छाद के परस्पर एकस्वरूपत सम्बन्ध हैं। सप्तदशावयवों के अविच्छिन्न सन्धान भाव से सम्बद्ध यज्ञाग्नि का ही यही समग्र अपभ्रित है। अत एव आवश्यक है कि, इतन्तव दृष्टिपात न करते हुए, अन्य अप्रस्तुत वाक् का प्रयोग न करते हुए केवल मन्त्रवाक् लक्षण आभाषण, प्रत्याभाषण कर्म का ही अवधान पूर्वक एक दूसरे के प्रति यज्ञमात्रा समर्पित करत हुए यज्ञ के १० अवयवों का अविच्छिन्न रूप से सम्पादन किया जाय। अविच्छिन्न-सन्धान परम्परा से सम्बन्ध रखने वाला सप्तदशावयव दिव्य यज्ञ अविच्छिन्न आवात्मक सम्प्रदानपरम्परा से वही प्रकार परिपूर्ण—समृद्ध—सफर—बन जाता है, जैसे कि अविच्छिन्न सम्प्रदान से पूयपात्र अलपरिपूर्ण हो जाता है। भगवान् शङ्कर के लिए सतत स्रष्टा पारा अपेक्षित है। इस कर्म को सतत अनुष्ठान बनाए रखने के लिए शिवप्रतिमा के सान्निध्य में पादव अवयवा ऊर्ध्वदेहा में एक पापाणमय अलकोरा (द्वीप) बना दिया जाता है। सम्मिष्टि १०—५ व्यक्ति अष्टमाव से उसे भर दिया करते हैं। सभी व्यक्ति रूप प्रदेश से अलकोरापर्यन्त नियमित रूप से लड़े हो जाते हैं। एवं

कबल मृदुपदों को ध्वन्य में रखते हुए सन्मथता से सब भरना आरम्भ कर देते हैं। एक दूसरे को क्रम वार अविच्छिन्नरूप से घट साँपता जाता है। यज्ञकोश परिपूर्ण हो जाता है। पारस्परिक अविच्छिन्न सम्प्रदान का यह एक लौकिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। अथवा तो—यथा पूजपात्रं परासिञ्चेत् का यह वाक्य भी स्पष्टाया जासकता है कि, अल्पपूजपात्र का निरर्थक प्रवेश में उसे डाखना है वैसे ही अप्रस्तुत वाक् से यज्ञ की परिपूर्णता नष्ट करनी है। सिद्ध काव्य को बिगाड़ देना और आभाषण—प्रत्याभाषण कर्म में अप्रस्तुत वाणी का प्रयोग करना समनुचित है। तद्वत् ही यहाँ भी यज्ञकोश-परिपूर्ण सप्तश्रामात्राओं का अविच्छिन्नरूप से ही अनुगमन करना चाहिए, यही फलितार्थ है ॥ ७ ॥

८६१, ११, इन चार कण्विकार्थों में उसी अविच्छिन्न-वाक्संयमानुगत-पारस्परिक सम्प्रदान कर्म की इतिकृतम्यता का स्पष्टीकरण हुआ है। १२, १३, १४, इन तीन कण्विकार्थों में सामवाग से सम्बन्ध रखने वाले वाक्संयम का प्रासंगिक निरूपण हुआ है। १५ इसी कण्विका में उस वाप का विश्लेषण हुआ है जो सम्प्रदानपाराविच्छिन्न स एव अप्रस्तुत वाक्प्रयोग से हुआ करता है। असाधधानी करन से उसे घट विनष्टि, पादभ्रष्टता आदि दोषों के कारण यज्ञकोश अपूर्ण रह जाता है एवमथ यदि पारस्परिक सम्प्रदान में मूर्खिक भाग अनन्यमनस्कता, अन्य असामयिक वाक् का प्रयोग कर डाखी तो यज्ञमन्यान विच्छिन्न हो जायगी। फलतः यज्ञवत्त्वं न केवल साङ्गोपाङ्ग ही न बनगा अपितु यज्ञमान का महान् अनिष्ट भी हो जायगा। अतएव इस अभ्यवच्छिन्ना—सम्प्रदानपरम्परा का साधधानी से अनुगमन करना चाहिए। यह अवधानता केवल आभाषण० कर्म के लिए ही आवश्यक हो, यह बात नहीं है। अपितु पुरुषार्थेष्टश्रम यज्ञ कर्म से सम्बन्ध रखने वाले और और भी जो ब्रह्म कर्म हैं उन सब का भी यथाविधि अनन्यमनस्कता से ही अनुगमन करना चाहिए। संकेत विधि से हमें हमारे लौकिक कर्मों के सम्बन्ध में भी श्रुति यह आह्वान दे रही है कि, यदि हमें कोई काम करना है उस सर्वात्मना सफल बना देना है, तो अनन्यमाय से उसी को ध्वन्य में रखना चाहिए। हम अपने प्रज्ञापराध से मनागज्य की चञ्चलता के अनुमद से संकल्पित कर्म के साथ साथ ही अन्यान्य संकल्प भी किया करते हैं। यही वह व्यवधान दोष है जिस के कारण प्रथमसंकल्पित अनुगमनीय कर्म में अपेक्षित बागरेत (बल)

नहीं रहने पाता। फलतः रुचिकार में हमें निराशा ही होना पड़ता है। जो काम एकवार सत्य पर चढ़ा लिया पहिले अनन्यमनस्कता के साथ यथावत् अग्रस्तुत माधों का परिस्त्याग करते हुए—सही में जुट जाना चाहिए। अथवा चन्दमूला—माय ही पारस्परिक सम्प्रदानात्मक सहयोगमूला ऐकमत्यभावात्मिका (संविदाना) ऐसी अनन्यमनस्कता ही कम्पसिटि का अन्यतमद्वार है जिस का—यथमेव यज्ञो भर्तृव्य इत्यादि आदेश से विश्लेषण हुआ है ॥ १४ ॥ (१६, १०, ११, १२, १३, १४, १५)

आभावन प्रत्याभावन कर्म से समन्वय रहने वाले निगद मन्त्र की पाँच व्याहृतियाँ हैं। वर्ण, स्वर, पद, वाक्य भद से शब्दात्मिका वाक् के चार विवर्तमान गये हैं, जैसा कि 'अस्वारि वाक् परिमिता पदानि' इत्यादि पठरय कृति से प्रमाणित है। इन्हीं चारों बाग्विवर्तों के लिए वद में क्रमशः अक्षर (वर्ण), अक्षर (स्वर), व्याहृति (पद), पुरुष [वाक्य] ये शब्द व्यवहृत हुए हैं। वैय्याकरण सम्प्रदाय में जिस के लिए 'अक्षरवाक्यस्फोट' वाक्य व्यवहृत हुआ है वही वैदिक अभ्यय पुरय है। प्रत्येक वाक्य में वर्ण, स्वर पद, चीनों विवर्तों का समावेश रहता है। ऐसा कोई भी उच्चारण नहीं जो वाक्य न माना जासकता हो। ऐसा कोई भी वाक्य नहीं जिसमें वर्ण-स्वर पद का समन्वय न हो। यदि किसी व्यक्ति के क्या देवदत्त यहाँ है? इस प्रश्नान्तर में हम केवल न हम एक अक्षर का प्रयोग करते हैं तो यहाँ भी एकलक्षर वाक्य विद्यमान है। 'न कार में वण स्वर पद अर्त्तनिगूढ है अतएव उनकी प्रतीति नहीं होती। प्रतीति हो रही है—उस चाँधी बैवरी वाक् की जिस का हम प्रयोग किया करते हैं—शुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति। चारों विवर्तों में पद विवर्त ही व्याहृति है। प्रकृत निगद मन्त्र के वृत्ति पाँच पद हैं अतएव इन्हें व्याहृति नाम से व्यवहृत करना अन्वय बनता है यही वस्तु है।

द्विष यज्ञ अग्निमय है पृथ—तस्य वा पतस्याग्नेर्वागवापनिपत् (शत० १०। ६। ११।) इत्यादि आत मिद्धान्तानुसार यज्ञ अग्निमय वाक्मय है। वाक्मय अग्निव्यपण यज्ञ के स्वरूप निर्माण के लिए पञ्चम्याहृत्यात्मक निगदमन्त्र का प्रयोग हुआ है। प्रश्न स्वाभाविक है कि, हम प्राकृतिक वाक्मय यज्ञ के स्वरूप संपद के लिए पञ्चम्याहृत्यात्मक ही वाक्मय मन्त्र क्यों विहित हुआ? प्रश्न का अनेक दृष्टिकोणों से समन्वय किया जासकता है।

(१) पहिले आध्यात्मिकयज्ञ की दृष्टि से ही समन्वय कीजिए। अध्यात्म-संस्था की उत्पत्ति अभिदैवतगर्भित अधिभूत से हुई है। अभिदैवत लक्षण सर्वहुत यज्ञ ही सम्पूर्ण विश्व की मूलप्रतिष्ठा है। विश्वजनक यह यज्ञ प्राण, आप, वायु, अन्न, अमाश्व भद्र से पञ्चपर्वा है। पञ्चपर्वा इस आधिदैविक यज्ञ से उत्पन्न आधिभौतिक विश्वयज्ञ के स्वयम्भू (आकाश) परमेष्ठी (वायु), सूक्ष्म (वेज), चन्द्रमा (अन्न), पृथिवी, ये पांच महापर्व हैं। इस प्रकार जनक सर्वहुत मन्त्रवृत्तजन्म विश्वयज्ञ की भी पञ्चावयवता स्पष्ट है। इस पञ्चावयव विश्व यज्ञ (आधिभौतिक यज्ञ) से समुत्पन्न अध्यात्मसंस्था के आत्मा शरीर इन्द्रियबग, ये तीन विवर्त हैं, आत्मा मूलाधार है यही अक्षसत्त्व है। इसके अन्वय, महान् विज्ञान, प्रधान भूतात्मा ये पांच विवर्त हैं। शरीर भूतसत्त्व है। इस के पृथिव्यादि पांचों पर प्रसिद्ध ही हैं। इन्द्रियबग देवसत्त्व है। इसके भी वायु—प्राण—अधु—ओज—मन, ये पांच ही विवर्त हैं। इस प्रकार अभिदैवत यज्ञ अधिभूतयज्ञ एवं उमथयज्ञ से सम्पन्न अध्यात्मयज्ञ के आत्मा—शरीर—इन्द्रिय तीनों विवर्त सभी प्रकृतिवा पादक बन हुए हैं। प्रकृतिवद्विभक्ति कर्त्तव्या न्याय से इस बीच यज्ञ में भी वही प्राकृतिक यज्ञपादकता अभिप्रेत है। इस आध्यात्मिकदृष्टि से भी आत्मा के अन्त में पांच व्याकृतियों का प्रयोग करना अन्वय बन रहा है।

(२) दूसरी दृष्टि से पादकता का समन्वय कीजिए। वस्तुतः यज्ञ सोमयाग का अङ्ग है। सोमयाग का स्वीम्य त्रिमाकी से सम्बन्ध है। पार्थिव स्वीम्य त्रिमाकी के त्रिभुज पञ्चदश तन्त्रबिरा त्रिजत्र त्रयधिरा [६—१५—२१—२७—३३] से पांच स्वीम मान गए हैं। पाँचों में क्रमशः अग्नि वायु आदित्य, मात्स्वरसोम दिक्माम ये पांच देवता प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं पाँचों से क्रमशः वाक [अग्नि], प्राण [वायु], अधु [आदित्य], मन [मात्स्वरसोम], आत्र [दिक्माम], इन पांच आध्यात्मिक इन्द्रियदेवताओं का स्वरूप निर्माण हुआ है। पाँचों स्वीम्य देवताओं में आरम्भ के तीस देवता (अग्नि-वायु-आदित्य) अग्निप्रधान हैं। एक ही अग्नि को धृक्—धत्र—धरण (धन—धरस—धिरस) अवस्थाएँ क्रमशः अग्नि, वायु आदित्य हैं। अन्त के दो देवताओं की (दिक्माम, मात्स्वरसोम की) सामता स्पष्ट ही है। अन्तः पाँचों का अग्नि साम में पर्यायमान सिद्ध हो जाता

है। अग्निसोमसमन्वितरूप ही यह है। इसके पूर्वविध पाँच अधान्तरविधर्ष हैं। इन पाँच सोमभाग के अङ्गभूत (अतएव 'आकसौमिक' नाम से प्रसिद्ध) अङ्गभूत के इस इष्टियस में भी अङ्गी सोमभाग के पाँच धर्म का सम्बन्ध अपेक्षित हो जाता है। एवं पञ्चव्याहृति-सम्बन्ध से यह अपेक्षा भी सफल हो रही है।

(१) तीसरे दृष्टिकोण से समन्वय कीजिए। यह जो पूर्व में बाह्मय घटकाया गया है। बाह्मय यज्ञका रेत बाह्मस्व ही है। मूत्रेन्द्रसे आरम्भ के महिमा पद्मैत इस बाह्म के अधान्तर ३३ विधर्ष हो जाते हैं जो कि—त्रयस्त्रिंशत्तन्वो यं विरे त्तिरे इत्यादि मन्त्र बर्णमानुमार 'तन्मुदेवता' कथलाए हैं। इन ३३ अहगणारमक 'तन्मु देवताओं में ३ अहगणारमक तीन देवता (महा-विष्णु इन्द्र) इष्ट हैं। जेपि ३ रह जाते हैं। इन के ६-६ के 'स्पू' से पाँच विभाग हो जाते हैं। ३३ सौ का मन्त्र-अग्नीषोम का विभाजक १० बी अहर्गण है। ये ही ६ विभाग हैं। इस प्रकार एक ही बाह् के गौरूप सूक्ष्मसम १००० विधर्षों के पहिले ३०-३० गौ के सञ्चलन से ३३ सूक्ष्म विभाग होते हैं, अन्त में ६ स्पूक विभाग माने स्थित जाते हैं। यह वही बाह्मस्व का पदभाकरण-सञ्चलन अपट्कार है। बाह्म पट्कार ही अपट्कार है। अपट्कार मण्डल ही बाह्म का प्रातिष्ठिक स्वरूप है। इसका ३३ बी अहर्गण ही अग्नीषोमरमक प्रातिष्ठिक यज्ञ की अन्तिम सीमा है। इस 'वौपट्' रत्ना अपट्कारयज्ञ (बाग्ययज्ञ) की अन्तिम सीमा के (३३ के) गर्भ में अमरा २७७७ १०-१६-६-ये पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं। ब्रूठा स्वर्ग ३३ बी है। यज्ञमन्त्र का इन ६ ठे अपट्कारपर्व से ही सम्बन्ध है, जिस क गर्भ में पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं। यज्ञ के इन पाँचों पर्वों के संग्रह के लिए भी पाँच व्याहृतियों का ग्रहण अन्यर्धे बन रहा है। 'वो आवय' से त्रिवृत् (६) का, 'अस्तु वौपट्' से पञ्चवृत् (१६) का, 'यज से सप्तवृत् (१०) का 'वो यजामहे' से ऋक्सिंहा का, वौपट् से सप्तविंश (२७) का एवं समष्टिरूप ६ ठे अपट्कारकक्षण त्रयस्त्रिंशत् (३३) का ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से यह की पाह्मता का समर्थन किया जा सकता है। पाह्म यज्ञ से अत्यन्त पशुमग भी पुष्ट, अश्व, गो, अवि अज, भेद से पाँच विधर्षों में भी विभक्त है। पाह्मसोमभाग से सञ्चलन करने वाले सम्बत्सर यज्ञ का स्वरूप भी वसन्त, गीष्म, वर्षा, शरत् इमन्त, भेद से पञ्चपर्व है। बना दुर्गा है। अहोरात्र, पक्ष, मृतु अयन, सम्बत्सर, भेद से भी सम्बत्सरयज्ञ की पाह्मता स्पष्ट

है। इसी पाङ्कता के आधार पर अग्निहोत्र (अहोरात्र) वर्षापूर्व मास (पक्ष), चातुर्मास्य (वृत्त), पशुबन्ध (अयन), प्रहयाग (संवत्सर), इस प्रकार चार मानुष यज्ञ के पाँच पक्ष प्रतिष्ठित हैं। प्राकृतिक यज्ञ की इसी पाङ्क-सम्पत् प्राप्ति के लिए प्रकृत कर्म 'सम्पादक निगममन्त्र' में पाँच व्याहृतियों का समावेश हुआ है ॥ १९ ॥

सबसाधक यज्ञ ही प्रज्ञापति है। 'प्रज्ञापतिस्तेजोर्देव' सब यजिर्देव किञ्च इस निगम के अनुसार यज्ञात्मक प्रज्ञापति ही अपने विद्युत् भाग से सब कुछ बना हुआ है। इस प्रज्ञापति के स्थिति मेव से अनिरुक्त, अग्नीय, सर्व, ये तीन विवर्त हो जाते हैं। पिण्ड और पिण्डमहिमा, प्रत्येक वस्तुतत्त्व में ये दो मुख्य पक्ष माने गए हैं। पिण्ड दृश्य है, पिण्डमहिमा दृश्य है। 'पिण्ड-केन्द्रावच्छिन्न' तत्त्व अनिरुक्त प्रज्ञापति है, महिमा-केन्द्रावच्छिन्न तत्त्व अग्नीय प्रज्ञापति है। एवं महिमा मण्डल की रचन्तरसामात्मिका वहन नान्नी अन्तिम परिधि से सम्बन्ध रखने वाला तत्त्व सबप्रज्ञापति है। पिण्डाधारण प्रतिष्ठित महिमामण्डल वही पूर्वपरिचित वप ट्कार मण्डल है जिस के ३३ अहंगण बतलाए गए हैं। वही यह भी स्पष्ट किया गया है कि ३ — ३० गौ का एक एक अहंगण होता है। (कल्पः १० • गौ के ३०—३० के विभाग से (३० ६० में ही) ॥ अहंगण पूरा हो जाते हैं, १ गौ रोप गई जाती है। वही अन्तिम बीबीसवाँ सबप्रज्ञापत्यस्थान माना गया है। इसी के लिए 'चतुर्विंश प्रज्ञापति' कहा जाता है। जिस कर्म में येन केन रूपेण ३४ संख्या का समावेश हो जाएगा वह कर्म संख्या-समस्तुक्तमात्र से सबप्रज्ञापत्य सम्पत्ति से युक्त हो जाएगा। जिस कर्म में सर्वथा उपश्रुमाव का समावेश होगा वही तब सम अनिरुक्त दृश्य (पिण्डकेन्द्रावच्छिन्न) प्रज्ञापति का अनुग्रह प्राप्त हो जाएगा। एवं जिस कर्म में सप्तश्रु (११) संख्या का 'समन्वय' होगा, वही स्वतः एवं तन्ममस्तुमित 'अग्नीयप्रज्ञापति' की अनिनयसम्पत् का ग्रहण हो जाएगा। ३३ अहंगणायक महिमामण्डल का केन्द्र १० वाँ अहंगण है। वही मात्रहर्षा अहंगण उस नवाहंगण की उपक्रमभूमि है जिसे पुराणपरिभाषानुसार 'उत्तरीय निवासो अत्यनाराधण विष्णु' कहा जाता है। १० से आरम्भ कर २५ व अहंगण पर्यन्त ६ अहंगणों की व्याप्ति में जो उच्चातिर्गम्य अपूर्व यज्ञ प्रतिष्ठित है वही नवाहंगण कहलाया है। इस नवाहंगण का केन्द्र २१ वाँ अहंगण है।

यही भगवान् सूर्यनारायण प्रतिष्ठित है।— इन्हीं के सम्बन्ध से यह। यज्ञात्मक विष्णु सत्यनारायण कहलाए हैं, जो पूर्वप्रतिपादित त्रिविक्रम विष्णु से पूरक तत्त्व है। 'तद्यत् तत् सत्यमसौ स आविश्य' के अनुसार सूर्य सत्य की प्रतिमा है। आपातमय पारमार्थ्य समुद्र के यमों में प्रतिष्ठित रहने के कारण यही नारायण है। प्रतिमास की पूर्विमा तिथि में तत्त्वज्ञ ज्ञासक व्रतप्रक्रियाद्वारा इसी तत्त्व को अमृतमान किया करते हैं। १७-२१ & ये तीन अङ्गण क्रमशः ब्रह्मविष्णु विष्णु विष्णु इन्द्रविष्णु कहलाए हैं। यही त्रिविष्टप स्वर्ग है जिसका अन्यत्र विरादी काय हुआ है। तीनों में से १७ व का पार्थिव उस यज्ञविष्णु (त्रिविक्रम वामन विष्णु) से सम्बन्ध है जिसकी सम्पूर्ण प्रकृति यज्ञ में अप्रतिष्ठित है। इसका अन्तिम सीमा कृति १७ वां अङ्गण है, अतएव इस-सप्तशती के प्रजापति इत्यादि रूप सप्तशती नाम से व्यवहृत किया जाता है।। मूल्य से आरम्भ कर सप्तशती अङ्गण पञ्चम अङ्गण १७ अवयवों से ही इस यज्ञप्रजापति का स्वरूपनिर्माण हुआ है। पाँच व्याप्तिवर्गों से ब्रह्म यह इतीय नामक सप्तशतीप्रजापति पञ्चावयव है, वही ब्रह्मवैश्वदेव १७ अवयवों से यह सप्तशतीप्रजापति भी बन रहा है। पञ्चावयव सप्तशतीप्रजापति इसी यज्ञात्मा का व्याप्ति के सप्तशती अङ्गणों से सम्पन्न हो जाता है। वही पञ्चावयवसमष्टि के १७ अङ्गणों की मौलिक उपपत्ति है जिसका निम्न विहित स्मार्तवचन भी स्पष्टीकरण कर रहा है —

चतुर्भिः—चतुर्भिः—द्वाम्ना—पञ्चमिरव च ।।

१ २ ३ ४ — १ २ ३ ४ — १ २ ३ ४ ५ ६
(आ-आ-व-व) — (व-सु-आ-प-द) — (य-अ) — (ये-य-आ-म-ह)
(१-२-४) — (५-६-७-८) — (९-१०) — (११-१२-१३-१४-१५)
१ — २ — ३ — ४

ह्यत च पुनर्द्वाम्ना—

(१-१०)

(वा-प-द)

१-१०

४

तस्मै यज्ञात्मन नमः ॥

उत्तीर्णप्रजापतय

वृत्तिविज्ञापम्—(१८, १९ कण्डिका)—

सप्तदशस्तोमात्मक आत्तवर्णीय प्रवेश ही—जिसे हमने आत्मविज्ञप् कहा है—
नाचिकेत आत्मेय स्वर्ग कहलाया है। सुप्रसिद्ध स्वर्ग्यामि का—जिमका नाचिकेता
द्वारा प्रश्न हुआ है एवं यम द्वारा इसकाचितरूप से समाधान हुआ है—इसी सप्त
दशस्थान से सम्बन्ध है। प्राक्मौमिक पञ्चसङ्ग—समस्तिलक्षण सोमयाग से उत्पन्न
भवाप्रापक इवात्मा इसी सप्तदश स्थान में प्रतिष्ठित होता है। दूसरे शब्दों में
वर्षापूर्वमासि—चतुर्गुण सामयागापरपञ्च्यायक, ज्योतिष्टोम से प्राप्तव्य स्वर्ग सप्तदश-
स्तोमावर्णित यही नाचिकेत स्वर्ग है जिसके लिए कहा गया है—“वर्षापूर्व-
मासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत”। पञ्चावयवा सप्तदश-
कलात्मिका स्वर्ग्यामिलक्षणा प्राजापत्यमभ्यासि इस दृष्टिकोण से आधिदैविक सम्पत्ति
मानी जा सकती है, जिस की आधिभौतिक शरीर के निपनानन्तर प्राप्ति होती है।
मानवीय मन परोक्षपञ्चाकपण की अपेक्षा प्रत्यक्ष भौतिक पञ्चाकपण की ओर
बिरोध रूप से आकर्षित रहता है। हम की बाह्यदृष्टि पहिले पेरिऑकिक-पञ्चकामना
की अपेक्षा रहती है। जब उसे किसी कर्म के प्रति यह विश्वास हो जाता है
कि, मुझ अमुक कर्म से प्रत्यक्ष में भी इसी जीवन में भी कोई भौतिक फल मिल
सकता है, तो वह हम कर्म में अपेक्षाबुद्धिपूर्वक प्रवृत्त हो जाता है। यही क्यों
आधिभौतिक मायम-साम्यों से सम्पन्न कर्मकाण्ड का तो अधिकारी भी नहीं माना
गया है, जिनकी प्राथमिक लक्ष्यभूमि आधिभौतिक ही बनती है। ज्योतिष्का में
प्रतिष्ठित जो पञ्चाधिकारी केवल परोक्ष-आधिदैविक स्वस्वप्राप्ति के लिए कर्म में
प्रवृत्त रहते हैं उनका वह कर्म ना व्यासना किंवा ज्ञानयोग ही बन जाता है।
प्रवृत्तिस्तम्भ कर्मकाण्ड (यज्ञकाण्ड) का सामान्य अधिकारी तो प्रत्येक दशा में
भौतिक पेरिऑकिक फल की अवश्यमव कामना करेगा। प्रकृत आर्जव्य प्रत्या-
भावन कर्म के इस प्रत्यक्ष भौतिकफल का ही १८, १९, २०, इन तीन कण्डिकाओं
में स्पष्टीकरण हुआ है। तात्पर्य वैदिकयज्ञकर्म केवल पारिऑकिक आधिदैविक
स्वर्गादि फलों के ही जनक नहीं हैं, अपितु परोक्षफल के साथ साथ इनसे प्रत्यक्ष
भौतिक योग-समसंबाधक वर्षाविकस भी प्राप्त हो जाते हैं।

इन प्रत्यक्ष फलों की हम ज्योतिष्यक (गंगाछ-आकार), मुचनकोप (भृगाछ-
शुचिबी) भद स वा भागों में विभक्त कर सकते हैं। इसीसे यद्यप्यक्त भोगो

छिन्न पार्थिव कामनाओं की प्रतिष्ठा मनु अनुकूलता वर्षा ही है। निकामे निकामे न पर्जन्यो वपतु इत्यादि षष्ठ्यन्त्रवचनानुसार समय समय पर पर्जन्य देवता के अनुग्रह (व्यापार) से होने वाली वर्षा ही ओषधि-वनस्पति के उत्पादन द्वारा पार्थिव योग-क्षेम का संवाहन कर रही है। हमारी समस्त ऐहलौकिक कामनाओं का, पार्थिव भौगोलिक कामनाओं का, केन्द्रीकरण अन्न-वस्त्र पर ही अवलम्बित है। एवं इस की मूलप्रतिष्ठा लग्नालीय वर्षा ही है। वर्षा प्रकृति का प्रथम प्रत्यक्ष अनुग्रह है, पार्थिव ओषधि-वनस्पति-वस्त्र-पशु वित्तादि द्वितीयानुग्रह है। प्रथमानुग्रह (वर्षा) के आधार पर द्वितीयानुग्रह प्रतिष्ठित है। १५, १८, इन दो कण्डिकाओं में पहिले लग्नालीय प्रथमानुग्रह का, एवं २० वीं कण्डिका में द्वितीय भौगोलिक पार्थिव अनुग्रह का विश्लेषण करती हुई भूति भ्रान्त जनों की वस भ्रान्ति का आमूलचूड़ खण्डन कर रही है, जिस भ्रान्ति में यह कर के भ्रान्त मनुष्य यह कहते सुने गए हैं कि, "शास्त्रीय कर्मकाण्ड यज्ञकर्म तो मरने के पश्चात् ही फल देते हैं। हमारा पहिला कर्म अन्न-वस्त्र है। यह बिना शास्त्रीय कर्मकाण्ड से निवृत्त नहीं हो सकती।" अवश्य ही भारतीय यज्ञकाण्ड न केवल पारलौकिक परोक्ष फलों का ही प्रवर्तक है, बल्कि परोक्षातिशय के साथ साथ प्राकृतिक रहस्यपूर्ण वैज्ञानिक-शिक्षणपूर्ण आधिभौतिकी समस्त प्रत्यक्ष कामनाएँ भी इसी यज्ञकाण्ड से सम्पन्न की जा सकती हैं। यही तो यज्ञ के—'इष्टकामयुक्' विशरण का फलितार्थ है, जिसे न समझ कर भट्टरक्य भ्रान्त जन शास्त्रानुगत भारतीय वैदिक कर्मकाण्ड की श्रेष्ठा से अपना सर्वनाश करा रहे हैं।

३।

पुरोवात अन्न, विष्णु, स्तनयितु इम चारों सहायियों के एकत्र समन्वय से ही वर्षाकर्म की प्रवृत्ति मानी गई है। सुप्रसिद्ध पुरवाह इवा पुरोवात है। प्रत्यक्ष पृथ्वी ज्योति-सलिल-मरु (वायु अग्नि-पानी-वातवायु) की समष्टिरूप परम अन्न है। प्रत्यक्ष पृथ्वी वाकचिक्च विष्णु है, एवं प्रत्यक्ष भुत गज्जम तज्जन ही स्तनयितु है। सर्वप्रथम पुरोवात का सम्बार होता है। पुरावात सम्बार से इष्टतम मृतभाव (खण्डभाव) से विस्तर रूप अन्नपुण्ड्रों का निषठाकारप्रदेश में एकत्र समन्वय हो जाता है। अभयनता से समुत्पन्न वायु अग्नि-ब्रह्मीयधपय स एकत्र समन्वय हो जाता है। साथ ही गज्जम तज्जनलक्षण स्तनयितु भी। इम विष्णु वत्सम हो जाती है, साथ ही गज्जम तज्जनलक्षण स्तनयितु भी। इम सम्पूर्ण सामग्री सम्भार के समूहवत् होते ही—'तद्-तद्' प्रतिष्ठा के साथ वर्षा होने

अचरोहणम्) — “तस्मिन् यावत् सम्पातमुपित्वाऽर्धैतमेवात्मन
 पुनर्निवर्धत-यथेतम् । आकाशाद्वायुं, वायुर्मूत्रा घृमो भवति, घृमो-
 भूत्वाऽन्न भवति, अन्न भूत्वा मेधो भवति, मेधो भूत्वा प्रवपति ।
 त इह धीहि यथा-ओषधि-वनस्पतय तिल-माषा इति जायन्तः, जता
 वै खलु दुर्निष्पत्तय यो यो ह्यन्नमपि, यो रत सिञ्चन्ति, तद्वृक्ष
 एव भवति” ।

— छन्दोगोपनिषद्, ५ प्र ११ अ १, २, ४, ५, ६ ।

शुलोक्तस्य मन्दातस्म सोम द्वारा वृष्टिरूप में परिणत होता है, इस प्रथम दृष्टि-
 कोण से एवं अचरोहण क्रम में जीवात्मा वृष्टिरूप में परिणत होता है, इस द्वितीय
 दृष्टिकोण से हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ रहा है कि, शुलोक्तस्य लगाबीव
 तत्त्वचिन्ता ही वृष्टि का जनक है । अब एक दोनों दृष्टिकोणों से सर्वथा विभिन्न
 तीसरे दृष्टिकोण को समझ बनाइए । जिस प्रकार शुलोकाभिधत्ता सूर्य से रश्मियों
 का द्वारा सौर सावित्राग्नि (आदित्याग्नि) अन्नरूप से भूलोक की ओर आता
 रहता है, एवमेव भूलोकाभिधत्ता पार्थिव अग्निर्रोऽग्नि अपने प्राणरूप से भूनिष्ठ
 से निकल कर अन्नरूप से भूलोक की ओर आया करता है । भूलोक से आते हुए
 आदित्याग्नि से वही सुप्रसिद्ध “आदित्यानामयनम्” नामक यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न
 हो रहा है वही भू से आते हुए अग्निर्रोऽग्नि से सुप्रसिद्ध अग्निसामयनम् यज्ञ
 सम्पन्न हो रहा है । भूलोक से निकला हुआ प्राणरूप अग्निर्रोऽग्नि ही भूलोक
 की ओर आ ही रहा है । साथ ही भूलोक में भूगुह्य पर आकर आदित्याग्नि भी
 प्रतिक्रमित होकर अन्न रूप में परिणत होता हुआ भूलोक की ओर ही आ रहा
 है । दोनों के इसी सहगमन से एक ही ओर अयनसत्रों का स्वरूप सम्पन्न हुआ है ।
 सुप्रसिद्ध अग्निरा आदित्य-स्पर्धा का स्पष्टीकरण करने वाले आक्यान ने इसी सन्न-
 पिज्ञान का प्रतिपादन दिया है * । वक्तव्य यही है कि, पार्थिव अग्नि (प्राणरूप)

* इस निष्पन्न का निश्चय वैज्ञानिक विवेकन अनुपपन्नक्रमक आदर्शिका के — “अयमगति-
 निष्कलोपनिषद्” नामक तृतीय स्कन्ध में देखा जायिए ।

† — “अदित्याय ह वाऽअग्निरस्य वसवे प्राणस्या अन्नस्यैव-यस्य पूर्वं तर्त्ता ओषधेयामो,
 वसू पूर्वं ऽऽति । (शत ११।१।१।१) — “एतादित्यानामयनम् एतादग्निरसमयनम्”
 (शत ४।५।१।१५९) ।

अङ्गिरोऽग्नि) मृपिण्ड से निकल कर वाङ्मय स्तोमों के आधार पर, अमिप रूप से, एवं पृथक् से निरन्तर धुलोक की ओर जाया करता है। स्तोमधन्वः अङ्गिरोऽग्नि का यह धु-गमनमार्ग सर्वथा नियत है। अङ्गिरोऽग्नि क इसी धुगमन का स्पष्टीकरण करती दृष्ट मन्त्रभूति कहती है —

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ट्यान्यारुहन् ।

अ मूर्जया यया पथा घामङ्गिरसो ययु ॥

—अथर्वस १८:१।५।५१।

भूगुप्त पर व्याप्त अक्षमात्रा वाष्परूप में परिणत होकर धुलोक की ओर
 हुए अक्षिरोंऽग्निमें में प्रातिष्ठित हो जाती है। अग्निगमन के साथ साथ वाष्परूप
 परिणत पार्थिव अक्षमात्रा भी अन्तरिक्ष में चली जाती है। अन्तरिक्ष में प्रति-
 मसू नामक वायुविशेष के धरातल पर वह अक्षमात्रा गर्मीभूत बन जाती
 वही पार्थिववज्र का गर्मधारण है। जबतक सौररश्मियाँ तबि नहीं बन ज
 वतक वह पार्थिव अक्षमात्रा ठमी वायुगर्भ में प्रतिष्ठित रहती है। जब (व्या-
 त्तिक प्रीप्मकाकोपछादित निद्रापकाछावसान में) सौररश्मियाँ अपने निम्नभाग
 परिणत हो जाती हैं, तत्काल वायुधरातलस्थ पानी मृपिण्ड पर गिर पड़ता है।
 प्रकर पार्थिव अक्षिरोंऽग्नि द्वारा मसूधरातल में गल पानी ही काखान्तर में धूमि
 पर बरस पड़ता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार पार्थिव अक्ष ही धुलोक में अ-
 वृष्टि का कारण बन रहा है। हम समझते हैं वृष्टि कबल मृपिण्ड में ही होती
 परन्तु क्याय परिस्थिति तो यह है कि, भू-धू, वानों में समानरूप से वृष्टि हो
 है। अन्तर कबल यही है कि, धूम्राक्ष में पार्थिव अक्षिरोंऽग्नि वृष्टि के प्रवर्तक
 पर मूलाक्ष में अन्तरिक्ष्य पर्जन्य देवता वृष्टि के प्रवर्तक हैं। यहाँ से बहाँ
 पानी यहाँ बरसता है—पर्जन्य द्वारा। यहाँ से बहाँ पानी बरसता है—पार्थि-
 व अक्षिरोंऽग्नि द्वारा। पार्थिववृष्टि में पार्थिव अहर्गण निमित्त बनते हैं, दिव्य
 में सौर अहर्गण निमित्त बनते हैं। निम्न लिखित मन्त्रधुतियाँ इसी दृष्टिकोण
 समर्थन कर रही हैं —

(१) 'मयिषा इता वृष्टिमुदीरयति, मरुत सुप्तं नयन्ति ।

यदा खलु वा अमावादिष्यो न्यद् रश्मिभिः पय्यायते, अथ षपति

न्तरो में गमन करता है—(प्रमनिरूपणायाम्) । *—पूम्-निरूपण का तात्पर्य यही है कि, अक्षरोह (उत्पत्ति) क्रम में अपृतस्व से ही पुदप की उत्पत्ति हुई है । यदि आराह्ण्य में अपृतस्व का पुनर्गमन न माना जायगा तो सृष्टिक्रम आगे के लिए अवरुद्ध हो जायगा । कारण स्पष्ट है । पार्थिव सृष्टिनिर्माण में प्राकृतिक पुमोक्ष्य) अपमात्रा का यदि ध्यय ही हाता रहेगा, तो एक न एक दिन वह निराश हो जायगा । फलतः निर्माणक्रम धन हो जायगा । उपर—स्वयम्भूर्बा-
तव्यतोऽर्मान् इयद्वाष्ठाश्वतोऽप्य समाप्य—धाता यथापूर्वमकल्पयन् इत्यादि सृष्टिप्रमाणानुसार सृष्टिक्रम शाश्वत माना गया है । इसकी यह शाश्वतता तभी अनुगम्य बनो रह सकती है जब कि जीवापरोक्षणतः जीवाराह्य में भी अदृष्ट का गमन माना जाय । इसी आधार पर—‘‘एव ह्युपपत्तः’’ इत्यादि के अनुसार मानना पड़ता है कि—‘‘जीवात्मा भूतसूक्ष्मैः सम्परिप्लव्य एव आकाशतरे गच्छति ।

अग्निहोत्रप्रथम से समतुलित इस पञ्चाग्निविद्यात्मक अग्निहोत्र से ही पुरुषसूक्ति का आधिर्भाव हुआ है । हमारा वैध (मनुष्यपञ्चमानकृत) अग्निहोत्र में अग्नि, समित्, अङ्गार विश्वेतिह, इषित्रय्य, इत्यादि भौतिक साधनों का समन्वय रहता है । इन सब भौतिक साधनों का अन्नादिसृष्ट अग्नि, अन्नसृष्ट सोम इन ही साधनों में अन्तर्भाव माना जासकता है । क्योंकि प्राकृतिक नित्याग्निहोत्र में ये ही साधन ही मुख्य माने गये हैं । रावसीत्रैकाक्ष्यविधाता, ‘‘नैवोदेवा, मास्य मत्वा मध्य एक्य एव स्वाता’’—‘‘वृद्ध तस्यो—भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आवि बरा—‘‘सूर्यो वृहतीमभ्यूहस्वरति’’ इत्यादि ब्रह्मणो के अनुसार रोवसी ब्रह्माण्ड के कन्द्र विष्वद्वृत्त नामक वृहतीक्षन् के मध्यस्थान में प्रतिष्ठित सूर्यदेवता सावित्री-
न्निमग्न है । अग्निक्रम यह निरन्तर इसी प्रकार अभादान की इच्छा किया करते हैं जैसे कि हमारा शरीराग्नि स्वार्कलगा पुमुष्ठा के उपरान्त के छिद सार्य प्रातः अन्न

* तदन्तरन्यादिकमूयमेतद्-भूहोत्रार्थं यदि कैश्च किञ्चन ।

स प्रादुर्जीव करमावमाहो संविष्टितो गच्छति भूतसूक्ष्मैः ॥ —शर्चनमृष्टि

जीवात्मनोर्निराह एव स्वयम्भुव का निरुद्ध ब्रह्मण्ड विवेचन आदर्शब्रह्मण्डगत अत्यन्त-
विशालीनिराह अत्यन्त प्रथममन्त्र में देवता वर्णित ।

(भोजन) की इच्छा किया करता है। इस स्वाभाविक अन्नादानेच्छा से ही यह अन्नमहीति निबबन् से अन्नाद् कहलाया है। कल्पना कीक्षिप्त उस ब्रह्माण्ड व्यापक और बुद्धि के महामहनीय प्रवृत्ततम अन्नाद्भाव की, जिसकी महिमा के गर्भ में असंख्य अस्मदादि व अन्नाद् प्रतिष्ठित हैं, जिन्हें अपन स्वल्प आयतन की पूर्ण व स्थिर प्रतिदिन सायं प्रातः अन्नादान की युमुष्मा बनी रहती है। अवश्य ही यह मानना पड़ा कि, जिसने ब्रह्माण्ड के प्रति अपने आप को अन्नात्मकत्वन समर्पित कर दिया है, हमारे रोदमी ब्रह्माण्ड से मी बृहदायतन कोई न कोई अन्न निरन्तर हम विघ्राट की बृहती युमुष्मा शान्त करता रहता है। हम महदन्नाहुति का ही यह प्रभाव है कि, आरम्भसे आज पर्यन्त सृष्टिनिर्माण प्रक्रिया में अपनी मात्राओं का समर्पण करता हुआ भी सूर्य स्वरासीर से अभ्युज्ज्वलत बना हुआ है। जिस उस महदन्न की इस सौर माभिवाग्नि में निरन्तर आहुति होती रहती है जिस अन्नाहुति से आ कुजेन रजसावतमानो निर्बेरायन्नमृत मस्य च' इत्यादि मन्त्रवैतानुसार भी सौरमाभिवाग्नि स्वस्वरूपसे कृष्ण रहता हुआ भी ज्योतिष्मय बना हुआ है, वही सौराग्नि का अन्न वस महामहिम पारमेष्ठ्य मण्डल में रहने वाला मार्ग लोहवर्त्त है, जिन परमेष्ठी मण्डल के सामने सूर्य एक बुबुध क सदरा बनना महस्व रहता है। वही पारमेष्ठ्य अन्नसोम ब्रह्मणस्पति कहलाया है, जिसका मौलिक स्वरूप अन्नब्रह्मण ब्रह्मावत्त्व माना गया है। इसी ब्रह्मात्मिका सौरमाहुति से सूर्य प्रज्वलित है। सौरप्राण्याग्नि अग्नि है, सूर्यात्मक सृष्टिपिण्ड प्रज्ञार है, सूर्य से प्रवर्ग्यसम्बन्ध द्वारा इवस्तत विनिश्चय प्रज्ञ सोहित हरित ज्योतिषपुञ्ज विस्फुल्लित हैं अस्मदादि समस्त प्राणिवर्ग समित है, पारमेष्ठ्य साम ईषिर्गन्ध है। इन सब के समन्वय से ही प्राकृतिक निस्स अग्निहोत्र सञ्चालित है, जिसके आधार पर राक्षसी ब्रह्माण्ड की जीवनसत्ता अवलम्बित है। इसी प्राकृतिक सूर्याग्निहोत्रविधि के आधार पर मानुष वस अग्निहोत्रविधि का धार्मिकार हुआ है, जिस का यादिक ब्रह्मण सायं प्रातः अनुगमन किया करते हैं। अग्नि रात्र के इसी रहस्यारमक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए सृष्टि में कहा है—

“अप्यो ह वा अग्निहोत्रम् । तद्यदस्य अग्रज्जाहुतेः, तस्मात्—

सूर्याग्निहोत्रम् । न यत् सायमस्तमित शुहोति, य इद तस्मिन्—

सम्पन्न हुआ है, एवमेव शु. रसानुगत पुरुष (पिता), पृथिवी रसानुगता योपा [माता] के दाम्पत्य से प्राणीविध यज्ञ सम्पन्न होता है। योपा पृथिवी की प्रतिकृति है, पुरुष शु.लोक की प्रतिकृति है। अतएव इस प्राणीविध यज्ञ को भी धावापृथिव्य ही माना जायगा। प्राणविध धावापृथिव्य यज्ञ में पृथिवी, अन्तरिक्ष, यौ., तीन का सर्वथा पायेक्य है। इधर प्राणिविध धावापृथिव्य यज्ञ में अन्तरिक्ष का पृथिवी—प्रतिकृतिरूपा योपा के गर्भाशयस्थ अन्तरिक्ष्य आकार में ही अन्तर्भाव हो रहा है। अतएव यहाँ प्राणविध धावापृथिव्य यज्ञ की तीन संस्था होती है, यह प्राणिविध धावापृथिव्य यज्ञ की पुरुष, योपात्प से दो ही संस्था रह जाती है। सम्पूज ३—२ क्रम से धावापृथिव्य यज्ञ की पाँच संस्था हो जाती है जिनका पञ्चाग्निविद्या द्वारा क्रमिक विश्लेषण हुआ है। एवं जिस विश्लेषण की शु. अन्तरिक्ष पृथिवी, पुरुष, योपा, ये पाँच पृथक् बिधा हैं।

(१) सर्वप्रथम क्रमप्राप्त शु. बिधा का ही समन्वय कीजिए। शु.लोक अग्नि है आदित्य समित है, गतिमयी धूम है अहंकाश अग्नि है अन्द्रमा अङ्गार है नक्षत्र बिम्बुलिङ्ग है। इन्द्रज्येष्ठ देवदेवता स्वध्यापार से शु.लोकामि में भद्रा' रूप इन्द्रिय की आहुति देत है। आहुत भद्रातत्त्व और आहुतिप्राप्त अमृतत्व दोनों के अन्तर्व्याप्त (चिति) सम्बन्धात्मक रासायनिक इस संमिश्रण से—जिसमें दो के योग से दोनों के पूरकस्वरूपोपमहेतुगामी मीमरा अपूर्वभाव उत्पन्न हो जाता है—साग नामक तत्त्वान्तर उत्पन्न होता है। भद्रातत्त्व का रूपान्तर यही सोम अन्तरिक्ष्य यज्ञ में आहुतिद्रव्य बनने वाला है। सोमोत्पत्ति ही इस शु.यज्ञ का प्रधान फल है।

शु.लोक लोक है तत्र प्रलिप्त सौरप्राणाग्नि (माविश्राग्नि) साक्षी है। सूर्य पिण्ड भूताग्नि है, पिण्डकन्द्र को आसम्बन्ध बनाकर सौर शु.माक को अन्तिम सीमा में व्याप्त रहने वाला प्राणाग्नि देवाम्नि है। साक्ष-साक्षी का अभेद मान कर ही यहाँ—असौ बाप साक्षी भीतम ! अग्निः बह बह दिया गया है।

भूताग्नि पिण्डरूप आदित्य (सूर्यपिण्ड) प्रज्यमिति सा विद्या इता है। इसी से आनय धाव्यमरण धूम का उद्भूत होता है। इसी समित्पन से सूर्यपिण्ड समित' माना गया है।

जि—फिर प्राणविध समित (काष्ठ) से धूम निकला करता है एवमेव प्राण विम गहात्मक समित का गम बनाकर इस से चारों ओर गतिमयी का

न्निह सति जुह्वानि-इति । अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति, य इदं तस्मिन्निह सति जुह्वानि-इति, तस्माद्रै सूर्योऽग्निहात्रम् ।”

—रात० ब्रा० २।३।१।२, ३ ।

एक सूर्याग्निहोत्र में अग्निहोत्रसाधक अग्नि, अङ्गारादि, जिन साधनों का उल्लेख किया गया है, वे सब अग्नि सोम, इन वा तत्त्वों पर ही विभक्त हैं। अग्नि, धूम, समित अङ्गार, बिस्फुल्लिह, इन का ता अग्नि में अन्तर्भाव है, शेष सोममात्र रह जाता है। अतएव अवश्य ही इस अनेकसाधनानुगत भी यज्ञ का अन्तः सोमाहुतिर्यज्ञ। यह उल्लेख किया जासकता है। पञ्चाग्निविद्या का तात्पर्य यही है कि, एक ही यज्ञ स्थान भेद से पाँच संस्थाओं में विभक्त हो रहा है। सौर संस्था आधिदैविक है, पार्थिवसंस्था आधिभौतिक है, पुरुषसंस्था आप्यात्मिक है। आधिदैविकसंस्था का २ विधाओं से आधिभौतिकसंस्था का १ विधा से, एवं आप्यारमिकसंस्था का २ विधाओं से सम्बन्ध है। कारण इस संस्था विपर्यय का यही है कि आधिदैविक, तथा आप्यात्मिक यज्ञों के वाग्यस्वभाव से वहाँ अन्य वाग्यस्वयज्ञ (प्रजा) उत्पन्न होता है, वहाँ आधिभौतिक पापाण छोटादि यज्ञों से अन्य यज्ञ उत्पन्न नहीं होता। संकेतविधा से यही रहस्य सूचित करने के लिए आधिदैविक, आप्यात्मिक यज्ञों के लिए २—२ विधाओं का एक वाग्यस्व आधिभौतिक यज्ञ के लिए एक ही विधा का स्पष्टीकरण हुआ है। तीनों के पाँच अवयव-यज्ञों का ही पञ्चाग्निविद्या द्वारा विस्तृष्टण हुआ है।

एक पञ्चावयव यज्ञ वाचापृथिव्य है। वाचापृथिव्य यज्ञ के प्राणस्मरण-यज्ञ, प्राणीस्मरण-यज्ञ, भेद से दो विभक्त माने जासकते हैं। प्राकृतिक प्राणों के समन्वय से सम्बन्ध रखने वाला वाचापृथिव्य यज्ञ प्राणस्मरण यज्ञ कहलावेगा एवं प्राकृतिक अरमहादि प्राणियों के समन्वय से सम्बन्ध रखने वाला वाचापृथिव्य यज्ञ प्राणिक-स्मरण यज्ञ माना जायगा। प्राणस्मरण यज्ञ के पृथिवी अन्तर्गिहम्, धौ., ये तीन पर्व हैं। प्राणिकस्मरण यज्ञ के पुण्य चोपा (स्त्री) ये दो पर्व हैं। धूमोकाधिष्ठाता यह काशीन रहस्य अर्द्धाकारानुगत सौर आत्म्य प्राण से पुण्यसृष्टि का आधिर्भाव हुआ है। धूमोकाधिष्ठाता (जिस में आत्मरिहस्य प्राणवायु का भी समन्वय है) रात्रिकाशीन वहस्य अर्द्धाकारानुगत चान्द्र सौम्यप्राण से चोपासृष्टि का आधिर्भाव हुआ है। धू. स्मरण पिता पृथिवी ऋषिणी माता के वाग्यस्व से जैसे प्राणविध यज्ञ

सम्पन्न हुआ है, एवमेव शु रसानुगत पुरुष (पिता), पृथिवी रसानुगता योपा [माता] के वाम्यस्य से प्राणीविध यज्ञ सम्पन्न होता है। चापा पृथिवी की प्रतिहृति है, पुरुष शुभ्रोक की प्रतिहृति है। अतएव इम प्राणिविध यज्ञ को भी चापापृथिव्य ही माना जायगा। प्राणविध चापापृथिव्य यज्ञ में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, तीर्णा का सर्वथा पादेष्य है। इधर प्राणविध चापापृथिव्य यज्ञ में अन्तरिक्ष का पृथिवी—प्रतिहृतिरूपा चापा के गर्भाशयरूप अन्तरिक्ष्य आकारा में ही अन्तर्भाव हो रहा है। अतएव जहाँ प्राणविध चापापृथिव्य यज्ञ की तीन संस्था होती हैं वहाँ प्राणविध चापापृथिव्य यज्ञ की पुरुष, चापा रूप से दो ही संस्थाएँ रह जाती हैं। सम्भूय ३—२ क्रम से चापापृथिव्य यज्ञ की पाँच संस्था हो जाती है जिनका पञ्चामिनिविद्या द्वारा क्रमिक विश्लेषण हुआ है। एवं जिस विश्लेषण की शु अन्तरिक्ष पृथिवी, पुरुष योपा, ये पाँच पृथक् विधा हैं।

(१) सर्वप्रथम क्रमप्राप्त शु विधा का ही समन्वय कीजिए। शुभ्रोक अग्नि है आवृत्य समित है, रश्मियाँ धूम है अह-काष्ठ अर्पि है चन्द्रमा अङ्गा है नक्षत्र विस्तृतिज्ञ है। इन्द्रज्येष्ठ देवदेवता स्वयम्पाप से शुभ्रोकामि में 'भद्रा' रूप इवि द्रव्य की आहुति देत हैं। आहुत भद्रातत्त्व, और आहुतिमाहक अमृतस्व दोनों के-अन्तर्व्याप्त (चिति) सम्बन्धारमक रासायनिक इस सम्मिश्रण से—जिसमें दो के पाग से दानों के पूरस्वरूपोपमरोहारा तीसरा अपूर्वभाव उत्पन्न हो जाता है,—साग नामक तत्त्वान्तर उत्पन्न होता है। भद्रातत्त्व का रूपान्तर यही सोम अन्तरिक्ष्य यज्ञ में आहुतिद्रव्य बनने वाला है। सोमात्पत्ति ही इस शु-यज्ञ का प्रधान पद है।

शुभ्रोक छोक है, तत्र प्रतिष्ठित सौरप्राणाग्नि (सावित्राग्नि) छाकी है। सूर्य पिण्ड भूताग्नि है, पिण्डरूप का आसम्भन बनाकर सौर शुभ्रोक की अन्तिम सीमा में व्याप्त रहने वाला प्राणाग्नि देवाग्नि है। छोक-छाकी का अभव मान कर ही यही—आसौ बाव छाको गीतम। अग्नि यह कह दिया गया है।

भूताग्नि पिण्डरूप आवृत्य (सूर्यपिण्ड) प्रज्वलित सा चित्वा देता है। इसी से आगनय वाप्यसम्भरण धूम का उद्भूत होता है। इसी समिन्धन से सूर्यपिण्ड असमित माना गया है।

जिस प्रकार प्रज्वलित समित (चाप) से धूम निकला करता है एवमेव प्रज्वलित सूर्यपिण्डात्मक समित का गन्ध बनाकर इस से चारों ओर रश्मियाँ का

बितान जाता है। रश्मियाँ आग्नेय वायु की प्रतिक्रिया हैं। अतएव इन्हें अवश ही घूम कहा जा सकता है।

जिस प्रकार घूम युक्त समित्त से निकलने वाली अग्निज्वाला से चूँ और प्रकाश हो जाता है एवमेव रश्मियुक्त सूर्य से निकलने वाली रश्मियों के सङ्गुण बितान से सम्पूर्ण त्रैलोक्य प्रकाशित हो पड़ता है। प्रकाश ही अर्चि (ज्वाला) है। यही प्रकारात्मक अह ही अर्चि है।

अतएव ज्वाला (अर्चि) बनी रहती है, तबतक समित्त अज्ञाररूप में परिवर्त नहीं होता। ज्वालाके शान्त हो जाने पर ही अज्ञार की अभिव्यक्ति होती है। आपसङ्गता वह ज्वाला यहाँ अहलेसुजा अर्चि (प्रकाश) है। अतएव यह यही है तबतक चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता (अभिव्यक्ति नहीं होती, अपितु अभिव्यक्त रहता है)। अह के अन्तर्हीन होजाने पर चन्द्रमा इसी प्रकार अभिव्यक्त हो जाता है, जैसे कि, ज्वालापशम पर अज्ञार अभिव्यक्त हो जाता है। इसी सादृश्य के चन्द्रमा अज्ञार माना जा सकता है। चन्द्रमा सोममय है। सोममय चन्द्रमा की उत्पत्ति इसी दिग्ग आदित्यवत् से हुई है। इसलिये भी चन्द्रमा को आदित्य यज्ञ का अवयव माना जा सकता है। चन्द्रमा का प्रकाशवर्त्म भी सौरप्रकाश का ही प्रबन्धरूप है। प्रतिफलित सौर प्रकाश ही चान्द्रव्योति का ब्रूमक ब्रूमता है, जैसा कि—भूधा चन्द्रमसा गृह—शरणिचिरजसङ्गादेष पासीपपिण्डा—विजृम्भ दिशिचन्द्रचन्द्रिकाभिधकात्तेह न्यादि वचनों से स्पष्ट है। इस लिये भी चन्द्रमा को अवश्यमेव आदित्ययज्ञावयव माना जा सकता है।

चन्द्रमा अपरचन्द्ररा सुपर्णो भावते विभि इत्यादिमन्त्रवर्णनानुसार चन्द्रमा अपपिण्ड है। नक्षत्र अपृतस्व के ही प्रबन्धरूप है, अतएव इन्हें—उहूँ (पानी-पपिण्ड) नाम से स्वयङ्गत किया जाता है। नाक्षत्रिक आप्यप्राण अहाँ गण्यत्मक है, यहाँ चान्द्रमस आप्यप्राण अतिष्ठाया है। अवयव, अवयवी का जो सम्बन्ध है वही चन्द्रमा और नक्षत्रों का सम्बन्ध है। अतएव अग्नि वायु, आदित्य, चन्द्रमा इन चारों अतिष्ठाया देवताओं के क्रमशः बसु रुद्र—आदित्य—नक्षत्र, ये चार गणदेवता कदापि हैं जिसप्रकार अग्नी अज्ञार से अज्ञात्मक वित्कुञ्जि विनिगत हैं एवमेव अग्नी आप्य चन्द्रमा से अज्ञात्मक आप्य नाक्षत्रिक तेज का विकास हुआ है। अतएव नक्षत्रों का अवश्य ही अज्ञार चन्द्रमापक्षपा वित्कु-जिज्ञ कहा जा सकता है।

पार्थिव, आन्तरिक्ष, दिव्य, तीनों में क्रमशः अग्नि, वायु, इन्द्र, इन तीन अग्नि
देवताओं का प्रमुख है। अतएव पार्थिव देवताओं का आग्नेय आन्त
रिक्ष देवताओं का वायव्य, एवं दिव्य देवताओं का इन्द्र कहा जा सकता है।
उक्त दिव्यदेवताओं में ये इन्द्रदेवता ही अस्मिन् सूर्यमण्डल दिग्गम
प्रजापति ही इस पक्ष के यजमान हैं। दिव्य इन्द्रदेवताओं के द्वारा अष्टातस्य की
सावित्राग्नि में आहुति दी जाती है। इस प्रकार 'तस्मिन् न तस्मिन् न तस्मिन् दद्या' में
यहां इन्द्र देवता ही गृहीत हैं।

अथ रात्रि रात्रि इति केवल अष्टा तस्य। पूर्वमाह्येण भाष्यार्थं मन्त्रकथा
अष्टा के सात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण किया जा चुका है। अतएव विप्रपण अना
वश्यक है। प्रकरणमङ्गल के सिद्ध यह ज्ञान उना मात्र पर्याप्त होगा कि, पार
मेष्ठ्य अपूर्वत्वानुगत आत्मामोम से सम्बन्ध रखने वाला, मन (मय) का धारण
करने वाला, मनागत स्नेहमस्व ही 'अष्टा' है। 'अष्टा, रता, यरा' इन तीन पान्त्र
मनोवाच्य का क्रमशः वाच्य शरीरक, शुक्र, मन, इन तीन आध्यात्मिक पक्षों से
सम्बन्ध है। तीनों ही प्राकृतिक अनुसूच हैं। जिन के मन, शुक्र, शरीर में पान्त्र
अष्टा रत-यरा का प्रकृत्या समावेश रहता है वहीं अष्टासु रताया एवं यरास्या
होते हैं। मनोमयी अष्टा पितृप्राण की शुक्रमय रत मानवप्राण की, एवं वाच्य
यरा वपट्टकार सम्बन्ध से वैवप्राण की प्रतिष्ठा बनता है। अष्टातस्यानुगत पितृकर्म
इस अष्टातस्य के सम्बन्ध से ही आहूत किया जाता है। अष्टा वा आप (७० प्रा०
११५११) — के अनुसार अष्टा आत्मामोम में आपामय तस्यचिराय ही है जिस का
उपस्थ भाष्यों में तस्यचिराय सम्बन्ध नहीं हुआ है। अपूर्व अष्टा का प्रथम
रूप है सामतस्य अष्टा का स्वरूप है। तस्मिन्प्रपा मानसि दद्यानि (इराप
निपण) — 'आपा भूयद्विगीत्यमापा भूयद्विगीत्यमय' (गायत्रि-माह्येण) इत्यादि
भूतियों के अनुसार भूयद्विगीत्यमापा भूयद्विगीत्यमय अष्टातस्य तत्र दाना ही आपः है।
अतएव आपामयी अष्टा के सिद्ध — योज एवं अष्टा (गण ११११११) पर भी
का दिया जाता है। जकनक आपामयी अष्टा परमेष्ठी में शुक्र इ मन्त्रक या
अष्टा है। आदित्याग्नि में शुक्र दात ही आदित्याग्नि तथा अष्टारम दाना के सम

न्यस्य से पूर्वस्वरूपोपमईद्वारा यह 'सोम' रूप में परिणत हो जाती है। आपोमयी मृदा में आप्यप्राण की प्रधानता रहती है। परन्तु यह रूपान्तरमूल सोम आप्य प्राण से सर्वथा बहिष्कृत है। यह विशुद्ध वैयान्न बन जाता है। यही शुद्धोक्तो पक्षमित-आभिदैविक यज्ञसंस्था के शु-पर्वात्मक प्रथमपर्व का संक्षिप्त निर्देश है जिस का निम्न छिद्रित भूति से स्पष्टीकरण हो रहा है—

श्लो (१) "असी धाव लोको गौतम ! अग्नि । तस्य आदित्य एव समित्, रश्मयो धूम, अहरश्चि, चन्द्रमा अङ्गारा, नद्यत्राणि विष्कु लिङ्गा । तस्मिन्नेतस्मिन्नर्षो द्वा भद्रां जुह्वति । तस्या आहुत सोमो राजा सम्मवर्ति" । (दिभ्ययज्ञ)



(२)—दूसरा आभिदैविक यज्ञपर्व अन्तरिक्ष से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार पृथिवी का अतिष्ठावा व्यवसायिगर्मा पृथिवी के अनुसार अग्नि है, शुद्धोक्तातिष्ठावा आदित्य (इन्द्र) है, एवमेव अन्तरिक्ष के अतिष्ठावा वायुदेवता माने गये हैं। इस वायुतत्त्व के अनन्त विचर हैं। उनमें से सोमतत्त्व का अनुचोगी वृत्रतत्त्वका प्रतिवागी आप्यप्राणानुगत वायुविशेष ही प्रकृत की अप्सृष्टि में अभि प्रेत है। यही आन्तरिक्षिय वायुविशेष 'पञ्चन्य' कहलाया है। यही वस्तु शुद्धोक्तानु गत सोम को अपने गर्भ में रखने के कारण 'अग्नि (आप्याधि)' कहलाया है। आप्य अग्नि-सम्बन्ध से ही इस—'पञ्चन्यो वा अग्निः (शत० १४।१।१३) इत्यादि रूप से अग्नि कहा गया है। वर्षा से पहिले जो सनसनाता पूर्ववायु (पुरवाहं द्वा) प्रवाहित होता है, यही 'पञ्चन्य' कहलाया है। इसी अभिप्राय से पञ्चन्य का 'अन्तर्दीप्तं हि पञ्चन्य' (शत० ६।१८।३।९) यह उल्लेख किया गया है। अप्सृ मूर्ति शिवतत्त्व परिमाणा में यही पञ्चन्य 'मघ' नाम से व्यवहृत हुआ है। पञ्चन्य ही वृष्टिद्वारा सश्रमपञ्च का प्रथम बनता है। अतएव 'पञ्चन्यादीर्घं सव गवति' के अनुसार मघइय ही इसे 'मघ' कहा जा सकता है (वेदिय शत० ६।१।३।१५)। आप्य अग्निनञ्जण वायव्य तत्त्वात्मक पञ्चन्य के वस्तु वस्तुस्वरूपात्मक भीत निरूपण के विद्यमान रहते भी यदि इस का—'पञ्चन्यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिधानी

देवताविशेष' (शाङ्करभाष्य) यह अर्थ किया जाता है तो आश्चर्य इस लिए नहीं होता कि, देवा का तत्त्वविज्ञान गत सहस्राधिर्या से सबथा स्मृतिगर्भ में लिखी गया है। आप्यप्राणात्मक वायु (पञ्चन्य) पृष्टि का उपकरण भी है, प्राणधम्म स्वन इसे देवता भी कहा जासकता है। परन्तु यह—'अभिमानिष्यपशुशु विरापानुगतिर्याम वासा अभिमानी वृषता नहीं है, जैसा कि—शतपथभाष्य प्रथम बर्ष के—'अष्टविषदेवताविज्ञान' प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। अभिमानी देवता का सम्बन्ध एकमात्र उपासनाकाण्ड से ही माना गया है। कम्मकाण्डानुगत देवता का ता विमुक्त तत्त्ववाद से ही सम्बन्ध है।

जिस प्रकार पुरोकोपलक्षित आदित्याग्नि प्राणविध या, एषमेव यह आन्तरिक्ष्य आप्यप्राणाग्नि (पञ्चन्य) भी प्राणविध होने से देवाग्नि ही माना जायगा। ऋन्वन धर्मा प्रत्यक्षानुभूत पुरोयात इसी पञ्चन्य का भौतिकरूप माना जायगा। यही मूतबायु प्राणात्मक पञ्चन्यवायु का उत्तेजक बनता है, अतएव इसे पञ्चन्याग्नि की समित माना जासकता है।

पञ्चन्याग्नि, मूतबायु, आन्तरिक्ष्य अपृतस्व, अग्निसम्बन्धेन क्यन्न बाप्य (धूम), इन के सम्बन्ध से अन्न का स्वरूप सम्पन्न होता है। इन उपकरणों में बाप्य ही प्रधान है। अतएव तद्वादन्याय से अन्न को धूमरूपक कह देना अन्वर्थ बन जाता है। यह बाप्य कृतरूप से आन्तरिक्ष में सबत्र व्याप्त है। पञ्चन्यामुगत समितम्यानीय भौतिक वायु (मान्सूत) के व्यापार से ही इतस्तत् कृतरूप से बितर हुप बाप्य एकत्र पूज्जीभूत होत है। वही बाप्यपुञ्ज 'अन्न' कहलाया है, जिस की उत्तरावरणा मेघ कहलाए है। चूँकि समित से धूम का निगम होता है, इधर समित्लक्षण मूतबायु ही बाप्यपुञ्ज का जनक (समाहक) है। इसलिये भी अन्न को धूम कहा जासकता है।

आन्तरिक्ष्य व्याप्ति विधुन है। यही पञ्चन्याग्नि की अर्चि (प्रकार) है। अतएव अवश्य ही विधुन को आन्तरिक्ष्याग्नि उवाचारूप अर्चि कहा जासकता है। वम अङ्गार है, गाज्जन सर्जन बिस्तुलित है, जैसाकि आगे बित्सार से घतनाया जाने वाला है।

एवंविध पञ्चन्याग्नि में आन्तरिक्ष्य बाप्यव्यवस्थाओं के द्वारा नाम की आदुति होती है। पञ्चन्याग्नि, सोम नामों के रामायनिक सम्मिश्रण से पृष्टि का प्रादुर्भाव

हुआ है। यही पार्थिवीय यज्ञ की दूसरी विधा है, जिस का निम्न क्लिष्ट रक्षणों में स्पष्टीकरण हुआ है।

अन्तरिक्षम् (२) "पर्जन्यो वाव गौतम ! अग्नि । तस्य वायुरेव संमितः, अत्र धूमः, विद्युदपि, अश्वनिरङ्गाराः, इंद्रादनयो विस्फुलिङ्गा । तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नी देवा सोमराजान जुह्वति । तस्या आहुतेर्वैप सम्मयति" (अन्तरिक्ष्ययज्ञ) ।

* * * *

। (३)—पिण्डात्मिका (भूतात्मिका) पृथिवी भूमि कहलाई है, एवं महिमात्मिका (प्राणात्मिका) पृथिवी पृथिवी कहलाई है। भूपिण्ड के आधार पर विरत प्राणाग्नि ही प्रकृत में पार्थिवी शब्द से गृहीत है। यही प्राणाग्नि पार्थिव भौतिक यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा बनता है। यही भौतिक यज्ञ की धोनि है जिस के लिए—अग्निर्वै योनियज्ञस्य यह कहा जाता है।

भूपिण्डानुगत प्राणाग्नि भूवेन्द्र से निकल कर १७ वें अह्नाण पर्यन्त व्याप्त रहता है, जैसा कि, पूब क—'सप्तदशो वै प्रज्ञापति' इत्यादि निगदव्याख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है। सप्तदश अह्नाण्यारम्भ आनेसे मण्डल ही वह पार्थिव सम्बत्सर है, जिस का सार सावित्रप्राणाग्निमण्डलरूप दिव्य सम्बत्सर के साथ १७ वें अह्नाण्य सं अतिमान हो रहा है। सप्तदश विन्दु ही तथैवसम्बत्सर की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। यह सम्बत्सर मण्डल वैदिक है। वाक्यत्व ही भूतविषय का अनक धारक है। अतएव प्राणाग्नि कहा हैवानि कहा जा सकता है, वही वागाग्निरूप सम्बत्सर की भूताग्नि कहा जा सकता है। इसी पूर्वसमस्तुलन से सम्बत्सरमण्डल हम पार्थिव प्राणाग्नि यज्ञ की मिति माना जा सकता है।

परमाकाश पुराणाकाश शरीराकाश दहराकाश (दमाकाश), इत्यादि भेद से आकाश के अनेक विवेक माने गए हैं। स्वायम्भुव परमेष्ठ्योमन् ही परमाकाश है। सारमण्डल (मौररोहमीत्रेण्येव) से सम्बन्ध रखने वाला अजबसमुद्रार्थविश्व आकाश पुराणाकाश है। शरीर-दहराकाश आध्यात्मिक आकाश है। पुराणाकाशप्रमा मौर त्रिका में पार्थिवाकाशसंज्ञा सम्बत्सर मण्डल मिति है।

सम्बत्सर के अम्यात्मक, काळात्मक, वयोनापात्मक, मेघ से तीन विवेक हैं। अम्यात्मक सम्बत्सर तो समित्व है। काळात्मक सम्बत्सर भातिसिद्धि घनता हुआ व्यवहार की प्रविष्टा बन रहा है। वयोनापात्मक सम्बत्सर ही पार्थिव आकारा है। वाक्परिमाणालिका सम्बत्सरमण्डलसीमा ही वयोभाषात्मक सम्बत्सर है। यही व्योमात्मक सम्बत्सर कहाया है, जैसा कि—'व्योमा हि सम्बत्सरः' (रात० ८।१।११) इत्यादि बचन से प्रमाणित है। 'भूतपर' प्रतिष्ठित अस्मदादि पार्थिव प्रजावर्ग जिस आकाश का साम्राज्यकार किया करते हैं, वह यही पार्थिव आकारा है, जिस का वाद्य स्वल्प पार्थिवाम्नि से उत्पन्न वायु से निष्पन्न हुआ है। इसी वायु सम्बन्ध से आकाश को प्रकृत भूतयज्ञ का 'भूम' माना जासकता है।

सौर दिव्याग्नि व्योतिर्गम्य है। वही 'यज्ञो ह देवेभ्यो अपचक्रम'। 'त कृण्वो भूत्वा चकार' इत्यादि सिद्धान्तानुसार प्रचर्यसम्बन्ध से पार्थिवजगत् में मुक्त होता हुआ कृष्णरूप में परिणत हो रहा है। अहंकाश में पार्थिवसत्त्वा वही सौर व्योतिष्माम् सावित्राम्नि से अनुगृहीत रहता है, वहां रात्रि में पार्थिव कृष्णाग्नि का स्वाभाविक विकास रहता है। अतएव कृष्णभावात्मिका तयोमयी रात्रि ही इस पार्थिव मद्याग्नि की अर्चि मानी गई है। अग्नि के अनुरूप ही तो 'अर्चि' होती है। पार्थिव अग्नि यदि कृष्ण है तो तद्विकासात्मिका कृष्णा रात्रि भी अर्चश्य ही कृष्णाग्नि की कृष्णार्चि है।

रात्रिरूप अर्चि अवतक रहती है तबतक विराओं का बोध नहीं होता। रात्रि के अवसान पर विरार्य परिज्ञात होती है। अर्चि के अवसान्त होने से ही तो अङ्गार का अन्न होता है। इसी समनुष्ठान से विराओं को अङ्गार माना जा सकता है। अङ्गार अवयवी है तो विस्फुलिङ्ग अवयव हैं अनेक हैं, सर्वोपे व्याप्त हैं। 'भवत इव हीमा अवान्तरविरा' (रात० ७।१।११) के अनुसार सभी मान्त अवान्तर विरार्य हैं। इसी समनुष्ठान से अवयवात्मिका अवान्तर विराओं का विस्फुलिङ्ग माना जा सकता है।

एक परिग्रह मुक्त पार्थिव अग्नि में पार्थिव आग्नेय देवताओं के द्वारा वृष्टि की भावुति होती है। पार्थिव 'मृणम मृतामिमुक्त प्राणानि, तथा अन्तरिक्ष्य इति' (अस) दोनों के शासकानिक सम्मिश्रण से जीदि-यवादि वृक्ष 'अन्न' अन्न दाता

है। यही मध्यस्थ आधिभौतिक पार्ष्विक यज्ञ की मात्र एक विधा है, जिसका जो विश्लेषण हुआ है—

पृथिवी-(१)—“पृथिवी वात गौतम ! अग्निः । तस्या सम्बत्सर एव सन्ति,
आकाशो भूमः, रात्रिरग्निः, दिव्योऽङ्गाराः, अपान्तरदिव्यो
विष्कलिङ्गा । तस्मिन्तस्मिन्मयी देवा वर्षं जुह्वति । तस्या
आहुतेरन्नं सम्भवति” । (पार्ष्विकयज्ञः) ।

* * * *

(४)—द्विविध आधिविधिक यज्ञ तथा एकल आधिभौतिक पार्ष्विक यज्ञ के लक्ष्य स्वरूप विश्लेषण के अनन्तर आधिविधिक आधिभौतिक यज्ञ से हृत्स्वरूप आध्यात्मिक यज्ञ के उपासकपुण पुरुषय विधर्त का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है कि, हे गौतम ! पुरुष निम्नमेव (इस आध्यात्मिक यज्ञ का) अग्नि है। यहाँ पुरुष शब्द से वह आध्यात्मिक यज्ञक वैधानर अग्नि अभिप्रेत है जो सम्पूर्ण प्राणिजगत् की प्रतिष्ठा बना हुआ है। एवं जिसका अन्न वैधानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः (गीता १५।१४) इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है। पञ्चाग्नि-विद्योपक्रम में यह स्पष्ट किया गया है कि, वह यज्ञ प्राणयज्ञ प्राणियज्ञ, भेद से दो भागों में विभक्त है। पार्ष्विक प्राण अपान है, अन्तरिक्ष प्राण व्यान है दिव्य प्राण प्राण है। दिव्यप्राणलक्षण प्राण पार्ष्विक अपानलक्षण प्राण इन दोनों प्राणा पानों से मध्यस्थ व्यानलक्षण अन्तरिक्ष प्राण का तृती प्रकार ग्रहण हो जाता है, जैसे कि पञ्चाग्निशब्द शब्द से यु पृथिवी के मध्यस्थ अन्तरिक्ष का 'तन्मध्य पतितस्तूष्णमेव गृह्यते' व्यास से ग्रहण हो जाता है। पार्ष्विक अपानाग्नि पार्ष्विक नर (नाबक-अध्यक्ष) है अन्तरिक्ष प्राणव्याग्नि अन्तरिक्ष नर है दिव्य प्राणाग्नि दिव्य नर है। पृथिवी अन्तरिक्ष शीत, तीनों लोकों के अपानात्मक अग्नि व्यानत्पन्न वायु प्राणात्मक आदित्य तीनों मरों के पारस्परिक अन्तर्ग्राम सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला केरा-सोम-नकाश-भागों को जोड़ कर (या सोमम्भः, या महाप्रम्भः) सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त रहने वाला तापवर्मा आध्यात्मिक अग्नि ही वैधानर कहलाया है। इस की आध्यात्मिक पङ्कता को अध्य में रखकर

ही शक्ति ने कहा है—“पृथिवीं वै पुरुषः (वैश्वानरः) पञ्च” (ऐत. ब्रा० २।२।१)। वैश्वानरलक्षण आध्यात्मिक पञ्च अग्नि में चूँकि त्रैलोक्याग्नि का समावेश है, अतएव इसके लिये—“वैश्वानरो वै सर्वे अमनयः” (शत. ३।२।१।३५) यह कहा जाता है। शरीर में मस्तक भाग शूलोक है, नाभि पर्यन्त भाग अन्तरिक्ष है, गुद—माध्यन्तर भाग पृथ्वी—लोक है, यही आध्यात्मिक—त्रैलोक्य है। इन तीन लोकप्रत्येक तीन पुरों की समग्ररूप शरीरपुर में सीमित रहने से ही—“स एषोऽग्निर्वैश्वानरो—यत् पुरुषः” (शत० १०।६।१।११)—यह व्यक्त किया जाता है। मह्योमि के मेघ से प्रत्येक आध्यात्मसंस्था (प्राणिरारीर) का वैश्वानर पृथक्-पृथक् शरीराकारों में विभक्त होता हुआ पृथग्ब्रह्मा बना हुआ है, जैसा कि—“एष वै पृथग्ब्रह्मा वैश्वानरः” (शत० ब्रा० १।६।१।३०) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। एवं विश्वसर्वाग्नि (लोकत्रयाग्नि) लक्षण इस आध्यात्मिक अग्नि के उक्त ‘वैश्वानर’—‘पुरुष’ भावों का ही निम्न लिखित वचनों से स्पष्टीकरण हो रहा है—

(१)—“स य स वैश्वानर —इमे स लोका । इयमेव पृथिवी विश्वः, अग्निनर । अन्तरिक्षमेव विश्वः, वायुर्नरः । धौरेव विश्वः, आदित्या नर । (विश्वेभ्यो नरेभ्यो जातोऽग्निर्वैश्वानर)” (शत० ६।१।१।३)।

(२)—“इमे वै लोका पू । अयमेव पुरुषः, योऽय पवते । सोऽस्मां पुरि क्षेत, तस्मात् पुरुषः” (शत० ११।६।१।१)।

(३)—“प्राण एष स पुरि क्षेत । स पुरि क्षेत—इति पुरि क्षय सन्तं प्राणः ‘पुरुष’ इत्यावक्षत (परोक्षम् । परोक्षप्रिया इव हि देवा, प्रत्यक्षश्चिप)”—गा० ब्रा० पू० १।३६ ।

पञ्चमीतिक शरीर चित्ताग्निमय है। भूतान्निमय है। यही वाक्मय अग्नि है। यही शरीरपरिच्छिन्न वैश्वानर नामक पुरुषाग्नि की समित है। इसी शरीर पुरुष वाग्नि (शरीर) से यह समित रहता है। इसमप्रवृत्तासारमक प्राण ही इस समित शरीराग्नि से अजडरूप से निकलने वाला धूम है। जिह्वोपलभित

। अन्धकारमय शब्द ही) (चैतन्यीवाक ही) इस की अर्थि है । ७ आध्यात्मिकप्राणमय चक्षु ही अन्धकार से अन्धकारमय प्रतीयमान (जिस स्थिति का पशुओं की आँखों में रात्रि में अन्धकार किया जा सकता है) चक्षु ही अन्धकार है । आध्यात्मिकप्राणमय चक्षु का अविद्याता मोक्ष ही गोचरकुलित है । ऐसे इस आध्यात्मिक पुष्टपात्र में आध्यात्मिक इन्द्रियवैभवाओं के द्वारा अर्थाधिकारमय अन्धकारमय अविद्यामय की आहुति होती है । मुक्तान् रस-मय के अधिकारिकमय से कमरा रस असह्य । मत्स्य, मत्स्य, अस्थि, मत्स्य इन आहुतियों में परिणत होता हुआ अन्तर्गतता-रसो रूपमें परिणत हो जाता है । यही आध्यात्मिक चक्षु की प्रथमविधा है, जिस का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

पुरुष (वृषा) - ४—“पुरुषा वाचं गौतम ! अग्नि । तस्य वागेव समित्, प्राणो धूमः निष्ठा अर्षि, चक्षुरङ्गारा, भात्र बिस्तुलिङ्गा । तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ दद्या अन्न जुह्वति । तस्या आहुते रेतः सम्भवति” (वृषापथ) ।



(५) आध्यात्मिकचक्षु का दूसरा पर्व है—योपा—यज्ञ । वृषप्राण यही पुरुषसर्ग की प्रतिष्ठा है, यही योपाप्राण बीसर्ग की प्रतिष्ठा बनता है । वृषप्राण आग्नेय है योपाप्राण सौम्य है । आग्नेय वृषा का दृश्य सौर अङ्गारा से सम्बन्ध है, सौम्य योपा का अदृश्य अन्त्र अङ्गारा से सम्बन्ध है । योपाप्राणात्मिका स्त्री है शोणित में प्रतिष्ठित । अग्निमय ही योपा यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है । गर्भाशयगत शोणित में प्रतिष्ठित, मातृकिक (मूलप्रमाणप्राणमय) आग्नेयप्राण ही इस यज्ञ का आहुतिप्रादक अग्नि है । इस योपाग्नि का उत्पन्न अस्थि ही समित् है, अर्थात् समित् संयोग से उत्पन्न योपाग्नि-शोम ही धूम है । अन्तस्व रसवर्ण अन्तस्व तानि है यही अर्षि है । इत्यादि अक्षय इस योपाग्नि में पुरुषसरीरत्व प्राप्तवैभवाओं के द्वारा रेत की आहुति होती है । यही वृत्त रेत का अन्तर्गत में गर्भरूप में परिणत हो जाता है । आध्यात्मिक चक्षु के इसी अन्तिम आध्यात्मिक चक्षु का दिग्दर्शन कराती हुई भुक्ति-कदती है—

त्री-(घोषा)-१-“योपा वाव गीतम ! अग्नि । तस्या उपस्थ एव समिद् ।
यदुपमन्त्रपते, स धूम । योनिरधि । यदन्त कराति,
तऽङ्गारा । अमिनन्दा विस्फुलिङ्गा । तस्मिन्नेतस्मि
न्नम्नौ देशा रतो शुद्धति । तस्या आहुतार्मि सम्मषति”
छान्दोग्योपनिषत्-५ प्र १४, ५, ६, ७, ८ खण्डा ।

* * * *

एक पञ्चाग्निविद्यात्मक पञ्चपर्वात्मक यज्ञ का निष्कर्ष यही हुआ कि, घुसो
कोपलभिव आदित्याग्नि, अन्तरिक्षकोपलक्षित वायव्य पर्जन्याग्नि, भूकोपल-
क्षित पार्थिव अग्नि पुरुषात्मक वृषालक्ष्य वैश्वानराग्नि (शरीराग्नि) । योपाग्रा-
वत्यक रक्तमि इन पाँच अग्नियों में क्रमशः अद्वा, सोम, वृष्टि अन्न, रेत इन
पाँच इन्द्रिया की आहुति होती है । वही अद्वालक्ष्य आप (अपवत्त्व) उक्त
शेखर प्रविष्टित अग्निसम्बन्ध से सोम-वृष्टि अन्न-रेतारूप में परिणत होता हुआ
अग्निम पाँचवीं रतो आहुति से पुरुषस्वरूप (गमस्वरूप) का आरम्भक (उपा-
दान) बन रहा है । इसी लिए यह निश्चयेन कहा जासकता है कि—

“इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषगन्धमो भवन्ति” ।

| | | | |
|---------------------|--|--------------------------------|---------------|
| १-१-(१) या | → आदित्य (अदीक्षीक) → अद्वा | } → आधिपैतिकयज्ञ { → प्राग्वहक | } पञ्चाग्निपद |
| २-२-(२) अन्तरिक्षम् | → वायु (पर्जन्य) → सोम | | |
| ३-३-(३) पृथिवी | → अग्नि (पृथिवी) → वृष्टि → आधिपैतिकयज्ञ | | |
| ४-१-(१) वृषा | → वैश्वानर (पुरुष) → अन्नम् | } आप्यग्निकयज्ञ { → प्रमियज्ञ | |
| ५-२-(२) घोषा | → माजिन् (सौम) → रेत | | |

पञ्चाग्निविद्यात्मक पञ्चयज्ञ के द्वितीय यज्ञपत्र को (पर्जन्ययज्ञ को) सोमा
इति द्वारा वृष्टि का प्रवर्तक बतलाया गया है । आ कि—अग्निर्वा इतो वृष्टिमुरीरपति
इत्यादि पुरोक्त तृतीयवृष्टिकोण से सर्वथा विरुद्ध पड़ता है । पार्थिव अग्नि पार्थिव
पानी को आप्यरूप में परिणत कर आन्तरिक्ष्य धामुपगतन में स्थित कर देता

है। अग्निद्वारा वायुगर्भ में सञ्चित वही पार्थिव पानी काछान्तर में बरस पड़ा है यह कथन अवश्यमेव इष्ट पर्जन्ययज्ञमीमांसा का प्रतिद्वन्दी प्रतीत हो रहा है। 'अद्वा सोमरूप में, सोम पर्जन्याग्नि में आहुत होकर वृष्टिरूप में परिणत होता है' अवश्यमेव यह सिद्धान्त तृतीयदृष्टिकोण में व्यापात उत्पन्न कर रहा है। कौन्सा सिद्धान्त प्रामाणिक माना जाय ? अब कि दोनों ही धृति-सम्मत सिद्धान्त हैं ? आर्षसम्प्रदाय कतर होती है—जहाँ परस्पर आंतसिद्धान्तों में ही विरोध प्रतीत होता है वहाँ वानों ही प्रमाण हैं। इसलिये कि, यह विरोध केवल त्रुट्यदृष्टि से सम्बन्ध रखता है। तत्त्वदृष्टि के आधार पर अब समन्वय किया जाता है, वो विरोध का सबबा कन्मूढन हो जाता है। केवल निरूपणीया शैली-मेव स विरोध की प्रतीति होता है। वस्तुतः विरोध है नहीं। सृष्टिक्रमात्मविज्ञानदृष्टि से वहाँ पर्जन्ययज्ञानुगत वृष्टिसिद्धान्त प्रामाणिक है, वहाँ स्थितिक्रमानुगतविज्ञानदृष्टि से अग्निर्वा इत्यादि तृतीयदृष्टिकोण सुसम्बन्धित है।

सृष्टिक्रमसे सम्बन्ध रखन वाली पञ्चाग्निविद्या में अभिर्देवत-अभिपूत-अग्न्या स्वरूप से जिस पञ्चपर्वात्मक यज्ञ का विश्लेषण हुआ है, उमी का एतद्वय आरण्यक में इक्ष्वाविद्या रूप से उपबृंहण हुआ है। वहाँ योपत्सक पाँचवें पद का जोड़ दिया गया है। केवल आरम्भ के प्राण्यज्ञात्मक पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-इन तीन पदों का चोने पुरुष पर्व का संसह करते हुए परमयज्ञ (प्राणियज्ञ) में तीनों प्राण पदों का समन्वय बतलाया गया है (वैश्विप-एत० आ० २ आ० । १ आ० । २ ख०)। इसी इक्ष्वाविद्या का भाग जाकर तृतीयखण्ड में रेतस सृष्टि रूप से जो विश्लेषण हुआ है वह अपना एक स्वतन्त्र ही दृष्टिकोण रख रहा है। वहाँ दूसरे ही क्रम से सृष्टियज्ञ का विश्लेषण हुआ है। वैश्विप ।

“अपाता रतस सृष्टि —प्रजापत रता दवा, दवानां रता वपं, वपस्य रत आपधय, आपधीनां रतोऽन्न, अन्नस्य रता रेत, रतमा रत प्रजा, प्रजानां रता हृदय, हृदयस्य रता मन, मनमा रता वाक्, वापो रत कर्म । तदिदं कर्म कृतमप्य पुर्या मदाप्ता लोकः”—(एत० आ० २ आ० । १ अ० । ३ ख०)।

उक्त सब दृष्टिकोणों के वैज्ञानिक समन्वय के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि,—पार्थिव सत्याग्नि, आन्तरिक्ष्य सत्य वायु विषय सत्येन्द्र, पञ्चम्य श्रुत वायु, सोम सूर्यरश्मियाँ, पुरोबात, अभ्र, विद्युत्, स्तनयित्सु, आदि आदि उपादान-निमित्त कारणों के समन्वय से ही वृष्टि होती है। निम्न सिलित मोत स्मार्त्त वचन ही वृष्टि के उक्त कारणों का समर्थन कर रहे हैं—

- १—‘अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति —अग्नि —सत्यम्— पार्थिव्याग्नि
- २—‘वायुर्वै वृष्ट्या ईश’ — —वायु—सत्यम्— —वायव्याग्नि
- ३—‘आदित्याग्नायते वृष्टे —आदित्य—सत्यम्— —सावित्राग्नि
- ४—‘वार्जन्यवर्षासु वसते’ — —पञ्चम्य—श्रुतम्— —आप्याग्नि
- ५—‘सामाहुतेर्वै सन्मवति — —सोम—श्रुतम्— —चान्द्रसाम’
- ६—‘रश्मिभिर्वै समवधात’ — —रश्मय—सत्यम्— —प्राजाग्नि
- ७—‘पुरोबात ससृजिर’ — —पुरोबात—श्रुतम्— —वातवायु
- ८—‘अभ्रा वृष्टि’ — —अभ्रम्—श्रुतसत्यम्— अग्नि-वायु-रश्मि-पञ्चम्य-सर्ववर्षा
- ९—‘वृष्टिर्वै वाय्वा विद्युत् — —विद्युत्—श्रुतसत्यम्— —व्याधिरग्नि’
- १०—‘स्तनयित्सुर्पोपोन्वसृज्यत —स्तनयित्सु—सत्यम्— —राष्ट्राग्नि

शृक्मर्हितान्तर्गत ‘अस्य वामीयसूक्त’ के तीन मन्त्रों का वृष्टिविद्या के साथ विराय सम्बन्ध है। इस के अतिरिक्त कृष्णयजुःसंहिता का ‘कारीरीष्टि’ प्रकरण भी अंशतः वृष्टिविद्या पर प्रकारा डाल रहा है। एवमेव शतपथ—गोपथ—ताण्ड्यादि ब्राह्मणों के, छान्दोग्य-बृहदारण्यकादि उपनिषदों के तत्त्वद्विशेष स्वयं में भी प्रकीर्ण-रूप से इस विद्या का स्पष्टीकरण हुआ है। वैश्राक्षमविषादित सभी विद्या अर्थात्, तत्त्वविद्याओं के सम्बन्ध में यही एक ऐसी अङ्कन है जिस के कारण इन विद्याओं का हम भलीभाँति तबतक समन्वय नहीं कर पाते जबतक कि इन प्रकीर्ण प्रकरणों का एकत्र समन्वय नहीं कर लिया जाता। यह समन्वय निम्नयेन महाममारम्भ-सापद्य है। अनन्वयनिष्ठा से सन्तर्ण वैश्राक्ष को जबतक छद्म नहीं बना लिया जाता, तबतक उन प्रकीर्ण विषयों का संग्रह असम्भव है। एवं जबतक इन का संग्रह नहीं हो जाता तबतक वृष्टिविद्याओं का जन्तुर्ध्व से परिज्ञान असम्भव है। अब यह ही इस अदृष्टिवा के िराकरण के सम्बन्ध में भी पुरापुन में परस्य,

निम्न, गाथा, कुन्ध्या' आदि वैसे स्वतन्त्र ग्रन्थ रहे होंगे, जिन में उन प्रकीर्ण भावों का, विचारों का एकत्र संग्रह रखा होगा। परन्तु दुर्भाग्य से आज तो वे रहस्यात्मक परिमाणग्रन्थ हमारे दृष्टिपथ से सर्वथा विस्मृत ही हो चुके हैं।—वही वैदार्थ की एक महान् अद्विष्टता है, जिस का निराकरण तो चार व्यक्तियों के स्वल्प ज्ञान से कथमपि सम्भव नहीं। होना यह चाहिए कि, बहुसंख्या में योग्य विद्वान् अस्मत्प्रमत्त-मन्त्राद्यन्तर्गत वैदाराध-मन्त्रों के तत्त्व-विद्याप्रतिपादक तत्त्वनिर्गहों का प्रत्येक प्रबल रूप से संग्रह करें। सब का एकत्र संग्रह करते हुए उन का समन्वय करें। अबश्य ही इस विरा में उक्त अद्विष्टता दूर की जा सकती है। उदाहरण के लिए बुधिविद्या की ही लीजिए। अस्त्यवामीयसूक्त के १२ मन्त्रों में से केवल ३ मन्त्र ऐसे हैं जिन से बुद्धि विद्या के कुछ एक सिद्धान्तों का विश्लेषण हुआ है। वे तीनों मन्त्र भी एक साथ पठित नहीं हैं। अपितु तीनों का क्रमशः ३६ ४० ४१ यह संख्या क्रम है। वही स्थिति अन्य स्वप्नों की है। यही वह अद्विष्टता है जिस के अनुग्रह से प्रकृत ब्राह्मण के प्रत्येक प्रकरण में हमें अनावश्यक विस्तारदोष पुनरुक्तिदोष का विवश हो कर अनुग न करना पड़ रहा है। परिणाम स्वरूप पाठकों के लिए हमारा यह अध्यवस्थित मयास सुविधा के स्थान में अद्विष्टता का जनक बनता जा रहा है। इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से इस से अधिक क्या निवेदन कर सकते हैं कि जबकि वैदार्थ के विद्वान् सम्मिश्रित रूप से एक पद्धति के अनुसार वैदार्थ का समन्वय नहीं कर सके, तबतक एक ही व्यक्तियों की स्वस्वराक्षि मात्र के आधार पर इस विरा में सफलता प्राप्त कर लेना असम्भव ही होगा। हमारे ये अध्यवस्थित प्रकरण तो केवल यह पुष्टिार्थ कर सकते हैं कि जिन की दृष्टि में भारतीय शास्त्र केवल श्रमशास्त्र है, वे यह अनुमान करने लगेंगे कि, वैदाराध एक विज्ञानशास्त्र है, उस में प्रतिपादित विद्यार्थ प्राकृतिक नित्यविज्ञानों का विश्लेषण कर रही हैं। जिन कतिपय प्रतीक्ष्य विद्वानों की बाह्यदृष्टि में भारतीय शास्त्र अधिक से अधिक आत्मशास्त्र का समर्पक है, तदनुयायी दृष्टिदुर्भोगी अर्वाचीन का प्राप्य विद्वान् अपनी मिथि के वास्तविक स्वरूपज्ञान से वञ्चित रहते हुए इस के प्रति न केवल उदासीन ही हैं अपितु इस का उपहास करना भी जिन के जीवन का एक प्रधान पुष्टिार्थ बना हुआ है अबश्य ही उन की प्रार्थना का ये अध्यवस्थित प्रकरण भी मर्बायना नहीं तो अंशतः निराकरण कर सकते। एकमात्र इसी

लक्ष्य से ज्ञान वृद्ध कर इस पद्धति का अनुगमन करना श्रेय पन्था समझ है।
 चिन्हों वस्तुगत्या वैशिष्ट्या का रहस्यज्ञान प्राप्त करना है उन से तो हम यही निवे-
 दन करेंगे कि, व क्षणिक कण्डू मिगने बाह्य प्रस्तुत प्रयासों का एक ओर रखते हुए
 आनुपूर्वी से स्वयं मूलग्रन्थों को ही अपने स्वाध्याय का विषय बनावें। इस प्राप्त
 त्रिक निवेदन के साथ ही दृष्टिविद्या के प्रकीर्णक कर्तव्यों का दिग्दर्शन कराने बाह्य
 निम्न लिखित कृष्णमन्त्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं—

१—सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रतो विष्णातिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।

ते धीतिभिर्मनसा च विपश्चित् परिमुचः परिभवन्ति विश्वतः ॥

मृक्सं १।१६४।३६।

१—कृष्ण नियन्त्र हरय सुपणा अपा वसाना दिवमुत्पतन्ति ।

त आववृत्रन्तमदनास्तस्यादिव पृतन पृथिवी व्युद्यते ॥

मृक्सं १।१६४।४०।

२—समानमतदुदकमुच्चैस्तप्य आहमि ।

भूमिं पर्जन्या जिन्यन्ति दिव जिन्यन्त्यग्नयः ॥

मृक्सं १।१६४।५१

बाह्यी हेर के लिए यह मान लीजिए कि, आकाशास्थ मेघों से मृपिण्ड पर जो
 पानी बरसता है, वह यस्तुव पृथिवी की ही दन है। अग्निगन्ध-मृपिण्ड के केन्द्र
 से अग्निरोड्गि (प्राणाग्नि) शुष्मोक्त (आकाश) की भार निरन्तर जाया करना
 है यह प्रकरण प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है। 'अग्निर्वा इवा दृष्टिमुदीर-
 यति सिद्धान्त इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहा है। इस प्रकार पार्थिव
 असमात्रा (समुद्र मह मरिच, रूप बापी तद्गाग ओपधि-यनस्त्यति पार्थिव
 प्राप्तिशरीर आदि आदि में रहने वाली असमात्रा) ऊपर की भार आते हुए अग्नि
 रोड्गि के सम्पन्ध से बाणरूप में परिणत होकर ऊपर की ओर जाया करती है।
 इस प्रकार पार्थिव अग्नि पार्थिव असमात्रा को शुष्मोक्त की आरम्भान में एक निमित्त
 बना हुआ है।

दूसरा निमित्त है—‘वायु’। पार्थिव ‘सृण्ममय’ परमाणुओं का गुरुत्वाकर्षण भूषिण्ड के जिस नियमित ऊर्ध्वप्रदेश पर्यन्त व्याप्त रहता है वहाँ तक तो पार्थिव अग्नि ही पार्थिव अस्मात्रा को ऊपर खींच लेता है। ज्यों ज्यों अस्मात्रा ऊपर चढ़ने लगती है, त्यों त्यों वह पार्थिव गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होती जाती है। पार्थिवकर्षण विमुक्ता यही अस्मात्रा ‘वायु’ है। तब आन्तरिक्य वायु भी एक प्रकार का वायु ही है। आगे आकर अस्मात्रा के ऊर्ध्वगमन का प्रेरक यही वायु वायु बनता है। पृथिवी से बुलोक पर्यन्त सप्तविध सूक्ष्मेतादृशियाँ वितरित हैं। यही स्थापन कहलाया है। नाड़ीरूप इसी महापथ से सौर पदार्थों का प्रबन्ध-भाग पृथिवी में, पार्थिव पदार्थों का प्रबन्धभाग सूर्य में मुक्त होता रहता है। यही नाड़ीभाग उभय प्रकाशितियों के विस्तृत भाग की पारस्परिक आदान प्रदान द्वारा पूर्ति किया करता है। सौरपदार्थ, पार्थिवपदार्थ, दोनों ही गतिशून्य हैं। इन का गमनागमन होता है नाड़ी मार्ग से ही, परन्तु निमित्त बनता है—‘वायु’। सदागति मातरिश्च नमक वायु ही अपने गति बन्ध से दोनों का संवाहक बनता है। दूसरे शब्दों में वायु-धरातल पर प्रतिष्ठित होकर ही अस्मात्रा नाड़ीमार्ग से बुलोक की ओर जाती है।

तीसरा निमित्त है—‘सूर्यरश्मियाँ’। सूर्यरश्मियाँ पार्थिव तत्वों का निरन्तर आदान किया करती हैं। इस आदान बन्ध से ही सूर्यमस्था में मुक्त इन्द्र—धाता—मरु—पूषा—आदि १२ सौर प्राण आदित्ये—आदिवाना* इत्यादि निर्बन्धनों से आदित्य कहलाया है। सौरसादानत्व ही आदित्य का आदित्यत्व है। आदित्यरश्मियाँ ही नाड़ी हैं। नाड़ी-रूप रश्मियाँ भूगुह पर संछिन्न होती हैं। अपने स्वामाधिक सत्यधर्म के कारण कृतधर्मात्मक अस्मात्रा की प्राप्ति इतस्त न जाकर ये रश्मियाँ इसी नियत मार्ग से वापस बुलोक की ओर छौट जाती हैं। छाटा हुआ रहस्यवच्छिन्न सौर तेज अहां स्थावरी कहलाया है, वहां प्रतिच्छिन्न; साथ ही पार्थिव अक्षिरो-ग्नि से समवेत यही सौरतेज पायत्री

* ‘स प्रज्ज्मोऽग्नेरुत्त, इत्येव ययोरुत्त, वित्तेव पुण्यस्युत्त, वधुरेव पञ्चमावत्, मामेव चन्द्रमग आरत्। उपरावत्-तस्मात्प्रादिक’—सप्त भा ११८ अ० ५, १ ११।

